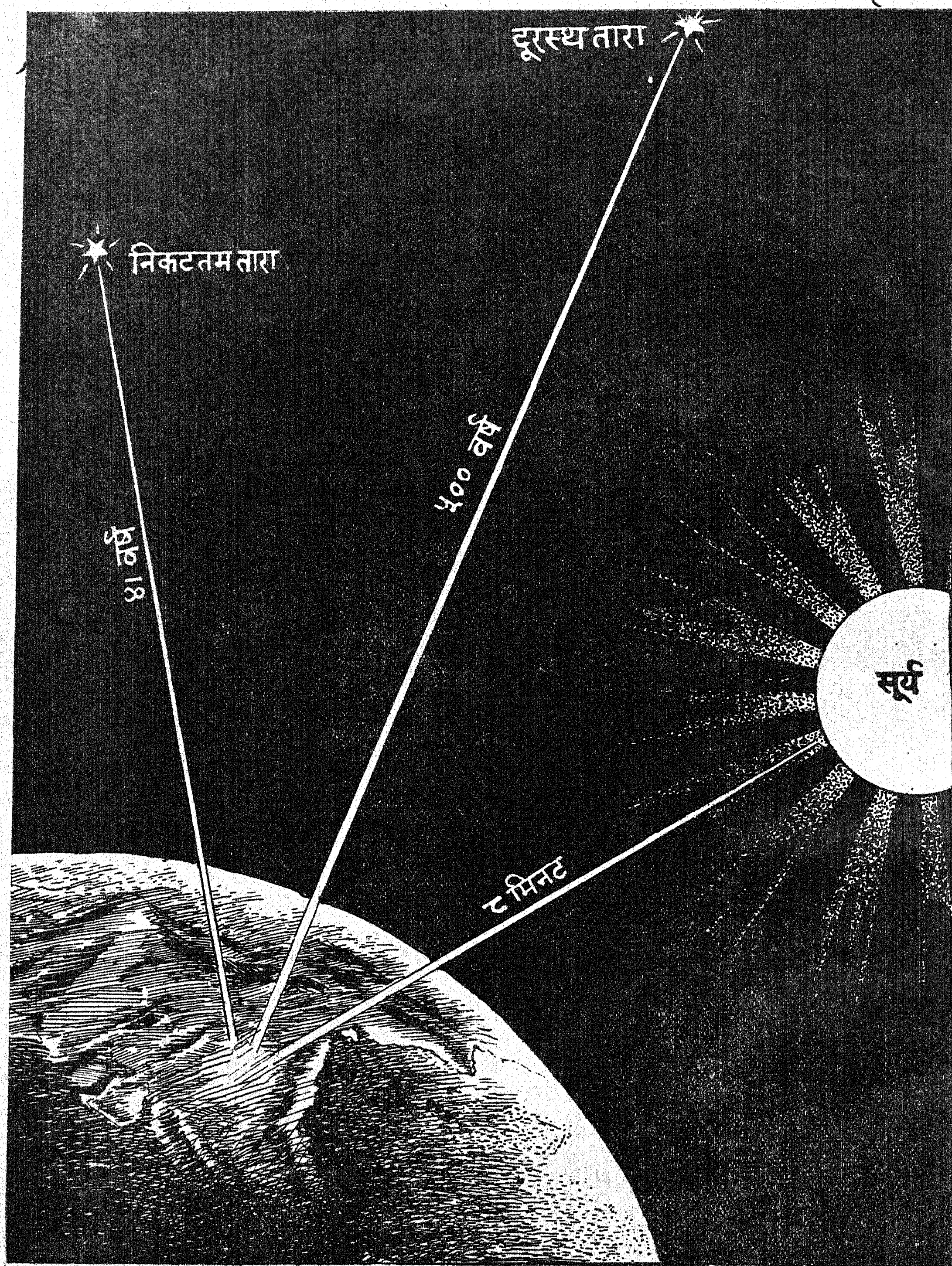


विश्व की कहानी



तारे कितनी दूर हैं ?

सूर्य पृथ्वी से लगभग साढ़े नौ करोड़ मील दूर है—इतनी दूर कि १८६००० मील प्रति सैकंड की गति से चलनेवाले प्रकाश को भी वहाँ से आने में आठ मिनट लग जाते हैं ! परन्तु तारे तो इतने अधिक दूर हैं कि सबसे निकट के तारे से पृथ्वी तक प्रकाश को आने में ४ वर्ष का समय लगता है ! और दूर के तारों की तो बात ही न पूछिए । उदाहरण के लिए सुप्रसिद्ध चमकीला तारा 'मृगपद' (Rigel) इतनी दूर है कि वहाँ से प्रकाश को आने में ५०० वर्ष लग जाते हैं !



तारों की दूरी, चमक, नाप और तौल

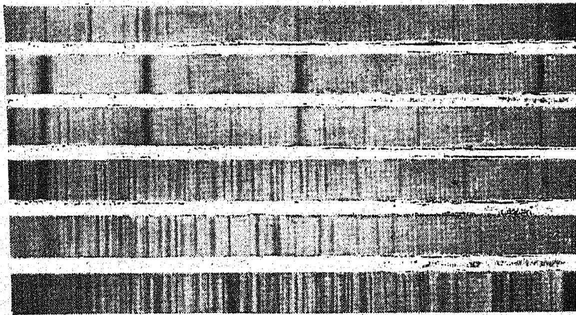
यों तो सूर्य हमसे इतनी दूर है कि हम उसकी सच्ची कल्पना नहीं कर पाते हैं—इतनी दूर कि प्रकाश को भी वहाँ से आने में आठ मिनट लग जाते हैं, यद्यपि प्रकाश पृथ्वी की प्रदक्षिणा एक सैकंड में सात बार कर लेता है !—परंतु तारे हमसे इतनी दूर हैं कि उनकी तुलना में सूर्य की दूरी नगण्य है। निकटतम तारा हमसे लगभग २,४०,००,००,००,००,००० मील दूर है ! शीघ्रगामी प्रकाश को भी वहाँ से आने में सवा चार वर्ष लगते हैं ! अन्य तारे इससे कहीं अधिक दूर हैं। उदाहरणतः, ध्रुव तारे से प्रकाश हमारे पास लगभग ४७ वर्ष में आता है, परंतु बहुत-से मंद प्रकाशवाले तारे ऐसे हैं, जो इससे कई सौ गुना अधिक दूर होंगे !

यदि हम किसी समीपस्थ तारे से सूर्य को देख सकते तो हमारा सूर्य वहाँ से, अधिक दूरी के कारण, एक साधारण तारे-सा दिखलाई पड़ता। यदि हम वहाँ आधुनिक बड़े दूरदर्शकों को ले जा सकते तो भी हम पृथ्वी, मंगल आदि ग्रहों को न देख पाते, क्योंकि ये ग्रह अपेक्षाकृत बहुत छोटे और सूर्य के बहुत पास हैं। वस्तुतः यदि विश्व की तुलना सागर से की जाय तो सौर परिवार—सूर्य और ग्रहों का समुदाय—एक टापू-सा समझा जा सकता है। इस टापू के चारों ओर दो-ढाई पद्म मील तक दूसरा कोई तारा नहीं है।

तारे सभी तप्त पिंड हैं। रासायनिक रचना में वे बहुत-कुछ हमारे सूर्य की ही तरह हैं; हाँ, कुछ हमारे सूर्य से बहुत गरम हैं, कुछ अपेक्षाकृत बहुत ठंढे। अत्यंत दूर होने के कारण वे हमको बिंदु-सरीखे लगते हैं। बड़े-से-बड़े दूरदर्शक में भी वे बिंदु-सरीखे ही रह जाते हैं—वे दूरदर्शक के कारण कुछ बड़े नहीं दिखलाई पड़ते। ग्रह आदि आकाशीय पिंड दूरदर्शक से दो-चार हज़ार गुना बड़े दिखलाई पड़ते हैं, परंतु तारे बिंदु-सरीखे ही क्यों रह जाते हैं ? कारण यही है कि शून्य को चार हज़ार से गुणा करने पर भी शून्य ही मिलता है, यद्यपि अन्य संख्याओं को इतने से गुणा करने पर वे उतनी ही गुनी बड़ी हो जाती हैं।

हमें कितने तारे दिखलाई पड़ते हैं ?

प्रथम बार तो तारे असंख्य जान पड़ते हैं, परंतु यदि सावधानी से किसी सीमित क्षेत्र को देखा जाय तो पता चलेगा कि तारे गिने जा सकते हैं। उदाहरणतः, यदि सप्तर्षि के चार तारों से बने चतुर्भुज के भीतर पड़नेवाले तारों को गिना जाय तो पता चलेगा कि उसमें पाँच-छः तारों से अधिक नहीं हैं, रात चाहे कितनी भी अँधेरी हो। इसी तरह प्रत्येक सीमित क्षेत्र के तारों को सुगमता से गिना जा सकता है। इसलिए यदि आकाश को छोटे-छोटे खंडों में बाँटकर तारों को गिना जाय तो उनके गिनने में कोई कठिनाई नहीं होगी। जब एक साथ ही सारे आकाश पर विचार किया जाता है तो अवश्य ही कार्य असंभव जान पड़ता है। तब कठिनाई उसी प्रकार की होती है जो प्रसिद्ध पुस्तक 'एलिस इन वंडरलैंड' में ऐलिस को पड़ी थी, जब सपने में



तारों के वर्णपट

ये वर्णपट तारों से आनेवाले प्रकाश के विश्लेषण द्वारा प्राप्त होते हैं। वर्णपटों पर उतरनेवाली विभिन्न रंगों की पट्टियों की चौड़ाई और गहराई के आधार पर यह ज्ञात हो जाता है कि किन-किन तारों में कौन-कौन से तत्त्व हैं और किन का कितना तापक्रम है। तारों के विभिन्न प्रकार के वर्णपट उतरते हैं, किन्तु उनका एक विशिष्ट क्रम है, जिससे यह ज्ञात होता है कि सब तारे एक ही विकास-क्रम की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में हैं।

कीड़े ने उससे पूछा—'तुम जोड़ना जानती हो ?' उत्तर 'हाँ' मिलने पर कीड़े ने पूछा—'अच्छा बताओ तो कि एक और एक, और एक, और एक, और एक, और एक, औरेक-औरेक-औरेक-औरेक-औरेक जोड़ने पर कितना हुआ ?' बेचारी ऐलिस चकरा गई !

आँख से दिखलाई पड़नेवाले तारों की संख्या कुल छः-सात हज़ार है ! कसबों में भी इससे अधिक व्यक्ति बसते हैं। परंतु एक समय में हमको आधा आकाश ही दिखाई पड़ता है, और क्षितिज के पास मंद तारे मिट जाते हैं। इसलिए एक समय में हमें दो-ढाई हज़ार से अधिक तारे नहीं दिखलाई पड़ते। सो भी इतने तारे तभी दिखलाई पड़ेंगे जब वायुमंडल पूर्णतया स्वच्छ हो और रात अँधेरी हो। चंद्रमा के कारण थोड़ा भी उजाला रहने पर, या वायुमंडल में धूलि या हलके बादल रहने पर, दृष्टि-गोचर तारों की संख्या बहुत कम हो जाती है।

दूरदर्शक की सहायता लेने पर बहुत अधिक तारे दिखलाई पड़ने लगते हैं। यरकिज़ के चालीस इंचवाले दूरदर्शक से दस करोड़ से कुछ अधिक ही तारे दिखलाई पड़ते हैं ! यदि आँख से देखने के बदले तारों का फ़ोटो लिया जाय और प्लेट को काफ़ी लंबा प्रकाशदर्शन (एक्सपोज़र) दिया जाय तो ऐसे तारों का भी चित्र उतर आता है जो दूरदर्शक से देखने पर अदृश्य रहते हैं। आँका गया है कि माउण्ट विल्सन के सौ इंच वाले दूरदर्शक से फ़ोटो लेने पर बीस खरब तारों का फ़ोटो उतर सकता है।

वर्णपट

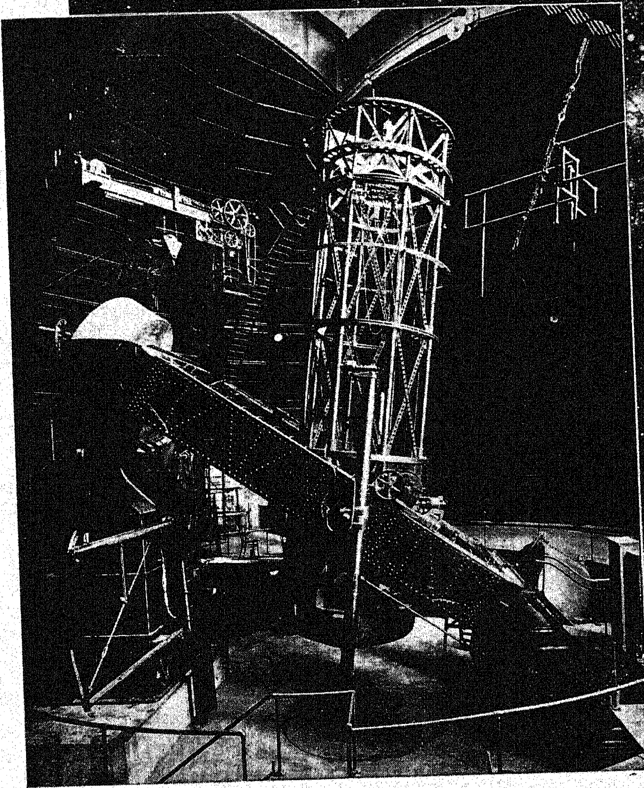
तारों को शीशे की क़लम (त्रिपार्श्व) द्वारा देखने पर वे रंग-विरंगे दिखलाई पड़ते हैं—उनमें इंद्रधनुष की तरह सब रंग दिखलाई पड़ने लगते हैं। इसी रंगीन चित्र को वर्णपट (स्पेक्ट्रम) कहते हैं। तारों के वर्णपटों का यथा-संभव बड़े पैमाने पर फ़ोटो खींचकर और इन फ़ोटोग्राफ़ों का सूक्ष्म अध्ययन करके आधुनिक ज्योतिषी तारों की रासायनिक बनावट, उनका तापक्रम तथा कई अन्य बातें जान लेता है। वर्णपटों से पता चला है कि तारों में भी वही पदार्थ हैं जो पृथ्वी पर मिलते हैं, जैसे हाइड्रोजन, ऑक्सिजन, सोडियम, मैग्नीसियम, कैल्शियम, लोहा आदि।

परंतु वर्णपटों के अध्ययन से जिन बातों का पता चला है, उनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण यह है कि विविध तारों को एक ऐसे क्रम में रक्खा जा सकता है कि उनके वर्णपट एक अखंड श्रेणी में आ जायँ। इससे स्पष्ट पता चलता है कि सब तारे एक ही विकास-क्रम की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में हैं—सभी तारे एक ही प्रकार जन्म लेते हैं, प्रौढ़ होते हैं, वृद्ध होते हैं और मरते हैं ! बात वैसी ही है जैसे कोई जंगल में जाय और वहाँ छोटे-बड़े अनेक पेड़ देखे, फिर उनको उनकी ऊँचाई के क्रम में रखकर विचार करे और जान जाय कि किस प्रकार जब आरंभ में पौधा उत्पन्न होता है तब उसमें केवल दो पत्ते रहते हैं, किस प्रकार बढ़ते-बढ़ते वह विविध अवस्थाओं में पहुँचता है, और अंत में वह किस प्रकार सूखकर मर जाता है। अध्ययनकर्त्ता इस प्रकार अल्पकाल में ही वृक्ष के विकास-इतिहास को जान लेगा, यद्यपि वह किसी वृक्ष को बढ़ते या मरते न देखेगा। ठीक इसी प्रकार वर्णपटों के अध्ययन से तथा अपने गणित से ज्योतिषी तारों के विकास-इतिहास का पता पा गया है। इस इतिहास का ब्योरा पीछे दिया जायगा ; इस परि-च्छेद में हम तारों के बारे में अन्य प्रारंभिक बातों पर ही विचार कर सकेंगे।

तारों की चमक

पहले बताया जा चुका है कि तारे चमक के अनुसार कई श्रेणियों में बाँट दिए गए हैं। प्रथम श्रेणी के तारे सब से चमकीले होते हैं, द्वितीय श्रेणी के उससे कम, तृतीय के उससे भी कम, इत्यादि। यह भी बतलाया जा चुका है कि अधिक सुविधा के लिए १·१, १·२, आदि भिन्नात्मक संख्याओं से भी श्रेणियाँ सूचित की जाती हैं, जिससे तारों की चमक अधिक सूक्ष्मता से बताई जा सके।

चमकीले तारों की श्रेणी ग्रीस के प्राचीन ज्योतिषियों ने निर्धारित की थी। परंतु जब दूरदर्शक का आविष्कार हुआ तो छठवीं से भी निम्न श्रेणी की सृष्टि की आवश्यकता दिखाई दी। इसके अतिरिक्त पूर्व-निर्धारित श्रेणियों में संशो-धन की आवश्यकता भी प्रतीत हुई। कुछ समय तक तो बड़ी गड़बड़ी रही, परंतु सन् १८५० में एक ज्योतिषी (पॉगसन) ने ऐसा प्रस्ताव किया, जो सर्वमान्य हुआ। इस प्रस्ताव के अनुसार श्रेणीसूचक संख्या में ५ की कमी होने से चमक ठीक सौ गुनी हो जाती है ; श्रेणी-सूचक संख्या से १ की कमी होने से चमक लगभग ढाई गुनी हो जाती है। इस प्रकार प्रथम श्रेणी के तारे से छठा श्रेणी के तारे की अपेक्षा सौ गुना प्रकाश आता है ; बार-हवीं श्रेणी के तारे के हिसाब से छठी श्रेणी का तारा सौ गुना चमकीला और प्रथम श्रेणी का तारा १००×१०० अर्थात् दस हज़ार गुना चमकीला होता है। रोहिणी नाम का तारा प्रायः ठीक प्रथम श्रेणी का है ; आर्द्रा भी प्रायः



कोरी आँख से देखने पर स्वच्छ अँधेरी रात में एक बार में हमें दो-ढाई हज़ार से अधिक तारे नहीं दिखाई पड़ते । परन्तु माउण्ट विल्सन के महान् दूरदर्शक द्वारा लगभग बीस खरब तारे देखे जा सकते हैं ! प्रस्तुत चित्र में १०० इंची दूरदर्शक और उसके द्वारा लिया गया नक्षत्रखचित आकाश के एक भाग का फ़ोटो दिग्दर्शित है !

ठीक प्रथम श्रेणी का है। ध्रुव तारा प्रायः ठीक द्वितीय श्रेणी का है। अन्य तारों की श्रेणियाँ इनसे तुलना करके निर्धारित की जा सकती हैं।

कोरी आँख से छठवीं श्रेणी तक के तारे दिखाई पड़ते हैं। एक इंच के दूरदर्शक से नवीं श्रेणी तक के तारे दिखलाई देते हैं, और १०० इंच वाले दूरदर्शक से उन्नीसवीं श्रेणी तक के तारे दिखलाई पड़ते हैं।

तारों की चमक का अनुमान करने के लिए पहले एक प्रसिद्ध वेधशाला में महिलाएँ रक्खी गई थीं ; वे दिनभर तहखाने में रहा करती थीं, जिसमें उनकी आँखों को दिन के प्रचंड प्रकाश से कोई हानि न पहुँचे। परंतु अब तो फ़ोटो खींचकर और प्लेट पर उतरे चित्र के व्यास को या घनत्व को नापकर तारों की चमक का अनुमान किया जाता है। चित्र के व्यास या घनत्व और तारे की चमक के बीच का संबंध स्थापित करने के लिए ऐसे यंत्रों का प्रयोग किया जाता है, जिनमें बिजली से प्रकाशित एक बिंदु कृत्रिम तारे का काम देता है। वास्तविक तारे को दूरबीन से देखते हैं और पूर्वोक्त कृत्रिम तारे से उसकी तुलना करते हैं। बिजली घटा-बढ़ाकर या अन्य रीति से कृत्रिम तारे को इतना चमकीला किया जाता है, जितना वास्तविक तारा रहता है और तब बिजली की मात्रा के अनुमान (या अन्य किसी उपयुक्त रीति) से तारे की चमक ज्ञात हो जाती है।

तारों की चमक नापने में सबसे अधिक कठिनाई उनके रंग के कारण होती है। बहुत-से तारे कुछ ललछौंह होते हैं, और बहुत-से कुछ निलछौंह, और यह कहना कि दो विभिन्न रंग के लगभग एक चमक के तारों में से कौन-सा तारा वस्तुतः अधिक चमकीला है कठिन हो जाता है। इसके अतिरिक्त साधारण प्लेटों पर फ़ोटो लेने से एक उत्तर प्राप्त होता है, तो पैनक्रोमैटिक प्लेटों पर फ़ोटो लेने से या आँख से देखने पर कुछ और ही। इन उत्तरों का समाधान करने के बदले ज्योतिषी दोनों के अंतर को 'रंग-सूचक' (कलर-इक्वेशन या कलर-इंडेक्स) कहता है और उसे तारे की ललाई या नीलेपन को इंगित करने के लिए प्रयुक्त करता है। इस प्रकार केवल शब्दों के बदले अर्थात् चटक लाल, लाल फीका, लाल पीला, इत्यादि के बदले ज्योतिषी को संख्याएँ मिल जाती हैं। जब रंग-सूचक संख्याओं का विश्लेषण किया जाता है और इसकी जाँच की जाती है कि कितने और किन-किन तारों की रंग-सूचक संख्याएँ क्या-क्या हैं तो पता चलता है कि तारों को वर्णपट के क्रम में रखने पर उनके रंगों में धीरे-धीरे प्रायः लगातार अंतर पड़ता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष है कि रंग के हिसाब से भी तारे क्रमबद्ध किए जा सकते हैं और साधारणतः रंग के हिसाब से तारों का विकास-क्रम प्रायः वही निकलता है जो वर्णपट के क्रम से। ऊपर जिस चमक का उल्लेख किया गया है, वह 'प्रत्यक्ष चमक' है, परंतु यह न समझना चाहिए कि यदि तारे सब एक ही दूरी पर रक्खे जा सकते, तब भी उनकी चमक वैसी ही दिखलाई पड़ती जैसी उनकी प्रत्यक्ष चमक है। यदि तारे सब एक ही दूरी पर रक्खे जा सकते तब भी उनकी चमकों में अंतर दिखलाई पड़ता, क्योंकि विभिन्न तापक्रम आदि के कारण कोई तारे बहुत चमकीले हैं, कोई कम। इस चमक को 'वास्तविक चमक' कहते हैं। प्रत्यक्ष चमक तारे की दूरी और वास्तविक चमक दोनों पर निर्भर है। यदि अधिक वास्तविक चमकवाला तारा हमसे बहुत दूर हो तो स्वभावतः उसकी प्रत्यक्ष चमक बहुत कम हो जायगी। तारे की प्रत्यक्ष चमक और दूरी ज्ञात रहने पर वास्तविक चमक की गणना तुरंत की जा सकती है।

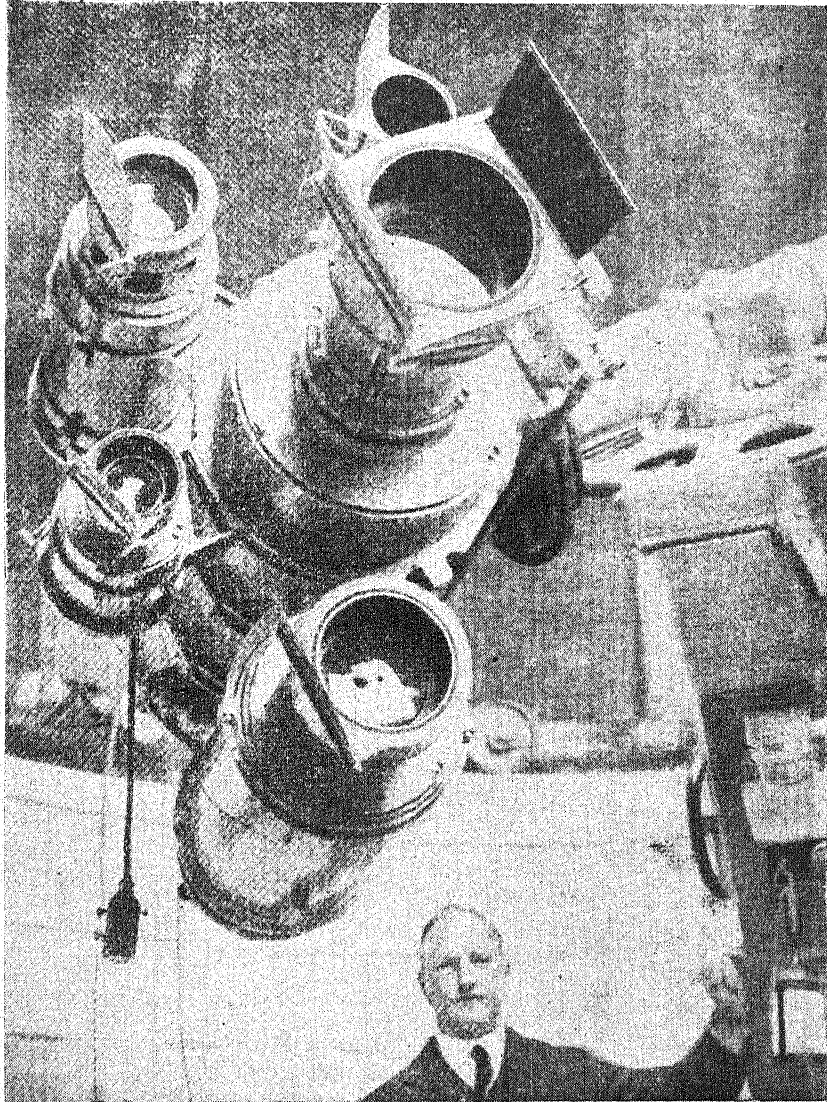
तारों की दुनिया

यदि हम यह गिन सकते कि किस चमक के कितने तारे आकाश में हैं तो हमें कई बातों का पता चल सकता। परंतु मंद प्रकाशवाले ऐसे तारे, जो केवल बड़े दूरदर्शक से ही देखे जा सकते हैं, इतने अधिक हैं कि उनके गिनने में हज़ारों वर्ष लगेंगे। इस कठिनाई को दूर करने के लिए हॉलैंड के ज्योतिषी कैपटाइन (Kapteyn) ने 'चुने हुए क्षेत्र' नामक अपनी प्रसिद्ध रीति निकाली। कैपटाइन ने सारे आकाश से २०६ छोटे-छोटे क्षेत्र बानगी की तरह चुन लिये और प्रस्ताव किया कि संसार की विविध वेधशालाएँ आपस में इन क्षेत्रों को बाँट लें और उनमें स्थित तारों की गिनती, चमक, आदि का सच्चा पता लगाएँ। कैपटाइन को प्रायः सभी बड़ी वेधशालाओं का सहयोग प्राप्त हुआ और इस प्रकार ज्योतिषियों को बहुत-सी बातों का पता चला।

सबसे विचित्र बात तो यह ज्ञात हुई कि तारे सर्वत्र एक रूप से नहीं बिखरे हैं। गणित से पता चलता है कि यदि तारे समान रूप से बिखरे रहते तो तारों की चमक-सूचक संख्या में दो का अंतर पड़ने पर तारों की संख्या सोलह गुनी हो जानी चाहिए थी। उदाहरणतः, यदि तारे समान रूप से बिखरे है तो आकाश में हमें जितने तारे १ से १०वीं श्रेणी तक के दिखलाई पड़ते हैं, उनकी संख्या १ से ८ वीं श्रेणी तक के तारों की संख्या की सोलह गुनी होनी

चाहिए; परंतु गिनने पर पता चलता है कि आठवीं श्रेणी तक के तारों की संख्या लगभग २३ हज़ार है और दसवीं श्रेणी तक के तारों की संख्या केवल १६६ हज़ार। इससे यह परिणाम निकलता है कि दूरी पर तारे इतने घने नहीं छिटके हैं जितने हमारे पास में। इसके अतिरिक्त, आकाश-गंगा की दिशा में तारे बहुत दूर तक मिलते हैं, और उससे समकोण बनाती हुई दिशा में तारों की संख्या शीघ्र क्षीण होने लगती है। इन सब बातों पर विचार करने से निष्कर्ष यह निकला है कि जो तारे हमें दिखाई पड़ते हैं वे सीमित दूरी तक ही फैले हैं, अनंत दूरी तक नहीं; और उनका समूह कुछ चिपटा, बाटी या पेड़े के रूप में है, गेंद की तरह गोल रूप में नहीं। हमारा सौर परिवार इस बाटी के प्रायः केंद्र पर है। इसी-लिए हमें आकाश में मेखला के रूप में तारों से खचाखच भरी आकाशगंगा दिखाई पड़ती है। आकाशगंगा हमारी बाटी के धरातल में है। इससे लंब दिशा में तारे थोड़ी ही दूरी तक हैं; इस-लिए उधर अधिक तारे नहीं दिखलाई पड़ते। इस बात का समर्थन कई अन्य युक्तियों से भी हुआ है और अब इसमें कोई संदेह नहीं है कि इस बाटी में तारों की आबादी समान रूप से घनी नहीं है। केंद्र के पास आबादी अधिक है; केंद्र से बाहर की ओर बढ़ने पर धीरे-धीरे जनसंख्या कम हो जाती है। तारों की संख्या इस प्रकार धीरे-धीरे कम होती है कि बाटी की कोई तीक्ष्ण सीमा नहीं है। इस बाटी का व्यास उसकी मोटाई का लगभग पाँच गुना है।

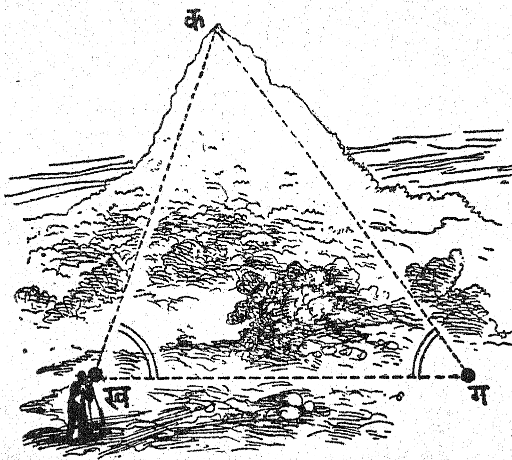
इस बाटी में छिटके हुए सब तारों को सामूहिक रूप से मंदाकिनी-संस्था कहते हैं। गणना से पता चलता है कि हमारी मंदाकिनी-संस्था में कुछ नहीं तो १,००,००,००,००,००० तारे होंगे। इतनी बड़ी संख्या की कल्पना कठिन



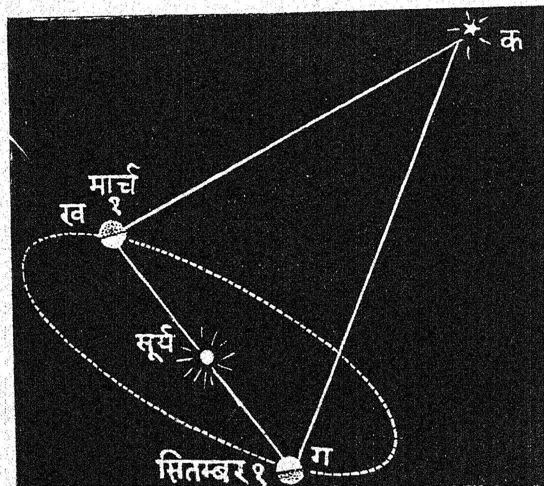
तारों के अध्ययन में अमूल्य सहायता देनेवाला एक दूरदर्शक-कैमेरा

फ़ोटो लेने का यह भीमकाय यंत्र सुप्रसिद्ध नार्मन लाक्यर वेधशाला में प्रस्थापित है। इस विशाल यंत्र में विभिन्न फोकस-लंबाइयों के चार बड़े कैमेरा लगे हुए हैं, जो तारों का फ़ोटो लेते समय लंबा प्रकाश-दर्शन (एक्सपोज़र) देने के लिए तारों की गति के साथ-साथ सूक्ष्मतापूर्वक घड़ी के काँटे की तरह घूमते रहते हैं।

है। प्रथम बार तो ऐसा जान पड़ता है कि कोरी आँख से दिखलाई पड़नेवाले तारे ही असंख्य होंगे। परन्तु गिनकर देखा गया है कि कोरी आँख से एक समय में ३,००० से अधिक तारे कभी दिखलाई नहीं पड़ते। संपूर्ण आकाश में कुल ६००० तो तारे ही देख पड़ते हैं और हमें एक बार में आधे से अधिक आकाश दिखलाई नहीं पड़ता। गिनने को कौन कहे, इन ६००० तारों के नाम या नंबर पड़े हैं और उनकी सूची छपी है। अब अपनी मंदाकिनी-संस्था के तारों की संख्या की कल्पना करने के लिए यदि हम सोचें की आकाश में दिखलाई पड़नेवाले ३००० तारों में से प्रत्येक फूटकर अपने ही बराबर ३००० तारों में प्रस्फुटित हो जाता है तो भी हमें कुल ९०,००,००० ही तारे मिलेंगे! मंदाकिनी-संस्था के १ खरब तारों की संख्या के आगे यह कुछ नहीं है!



दूरस्थ अगम्य स्थिति 'क' की दूरी नापने के लिए क्षेत्र-मापक 'ख' और 'ग' नामक दो विभिन्न बिन्दुओं पर अपना यंत्र लगाकर कोण 'कखग' और कगख को नाप लेगा। तब रेखा 'खग' पर त्रिभुज 'कखग' निर्मित कर वह आसानी से भुजा 'खक' या 'गक' नाप लेगा।



उपरोक्त सिद्धान्त पृथ्वी से तारों की दूरी नापने के लिए भी काम में लाया जाता है। इसके लिए काफ़ी लंबी आधार-रेखा चाहिए, जो अपनी कक्षा के वृत्त में पृथ्वी की छः महीने के अंतर की दो विभिन्न स्थितियों के बीच के साढ़े अठारह करोड़ मील के फ़ासले के रूप में मिल जाती है। इस विशाल आधार-रेखा 'खग' के दोनों छोरों से क्रमशः कोण 'कखग' और 'कगख' का नाप मालूम करके उपरोक्त पद्धति से त्रिभुज 'कखग' का निर्माण कर भुजा 'खक' या 'गक' की लंबाई मालूम कर सकते हैं। यही तारे 'क' की दूरी होगी। विशेष जानकारी के लिए अगले पृष्ठ का मैटर पढ़िए।

अँधेरी रात में उजाला

अँधेरी रात में भी आकाश के स्वच्छ रहने पर, काफ़ी प्रकाश रहता है। यह प्रकाश आता कहाँ से है? अनुसंधान से पता चला है कि इस प्रकाश का केवल छठवाँ भाग तारों से आता है; शेष राशीचक्र-प्रकाश से (दे० हिंदी विश्व-भारती, पृष्ठ ६२२), और हमारी पृथ्वी के वायुमंडल के निजी वैद्युत् प्रकाश से। तारों से जितना प्रकाश हमें मिलता है उसका केवल पाँचवाँ भाग ही हमें आँख से दिखलाई पड़नेवाले तारों से मिलता है, शेष उन तारों से मिलता है, जो इतने मंद हैं कि हमें पृथक्-पृथक नहीं दिखलाई पड़ते।

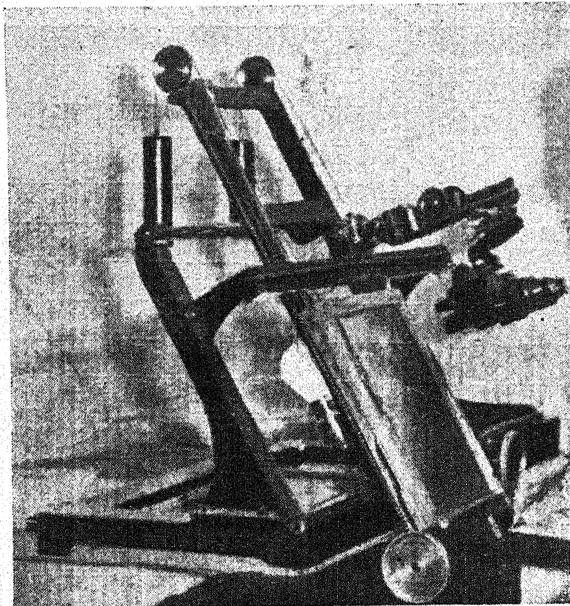
तारे अचल नहीं हैं

सब ग्रह तारों के बीच में चलते रहते हैं, इसलिए पाश्चात्य लोग प्राचीन समय में उन्हें 'चल तारे' कहकर पुकारते थे और साधारण तारों को वे 'अचल तारे' कहते थे। परन्तु सूक्ष्म वेधों से पता चलता है कि तारे अचल नहीं हैं। यदि तारों का फ़ोटो आज किसी बड़े दूरदर्शक से खींचा जाय और उसकी तुलना पचीस-तीस वर्ष पहले खींचे गए इन्हीं तारों के फ़ोटो से की जाय तो तुरन्त पता चलता है कि तारे स्थिर नहीं हैं, उनमें निजी गति है। केवल अत्यन्त दूर होने के कारण ही वे हमें स्थिर जान पड़ते हैं। वस्तुतः वे बड़े वेग से दौड़ते रहते हैं। यदि किसी तारे की दूरी और निजी गति हमें ज्ञात हो तो उसका वेग जाना जा सकता है। इसके अतिरिक्त भौतिक विज्ञान के सिद्धान्त पर तारों के वर्णपट में दिखलाई पड़नेवाली काली रेखाओं की स्थितियों से भी तारों का वेग जाना जा सकता है। यह

बताया जा सकता है कि किस वेग से वे हमारे ओर आ रहे हैं या हम से दूर जा रहे हैं। इन रीतियों से पता चला है कि अधिकांश तारे वस्तुतः भयानक वेग से दौड़ रहे हैं।

तारों की दूरी कैसे नापी जाती है

तारों की दूरी उसी रीति से नापी गई है जिससे क्षेत्र-मापक (सर्वे करनेवाला) दूरस्थ अगम्य वस्तुओं की दूरी नापता है। उदाहरण के लिए पृष्ठ २५७० का ऊपरी चित्र देखिए। यदि 'क' पर कोई वस्तु हो, जैसे पहाड़ी की चोटी, जो जंगल नदी आदि के कारण अगम्य हो, और यदि क्षेत्रमापक को उसकी स्थिति का ठीक-ठीक पता लगाना हो तो वह 'ख' और 'ग' दो बिन्दुओं को चुनेगा और पारी-पारी से वहाँ अपने यंत्र को लगाकर कोण 'ख' और कोण 'ग' को (अर्थात् कोण 'कखग' और कोण 'कगख' को) नाप लेगा। फिर वह सरल रेखा 'खग' की लंबाई को भी नाप लेगा। यही सरल रेखा उसकी 'आधार-रेखा' है और कोण 'ख' और कोण 'ग' उसके आधार-कोण हैं। इन तीनों के ज्ञात हो जाने पर वह साधारण ज्यामिति की रीति से त्रिभुज 'कखग' का चित्र बना सकेगा और तब भुजा 'खक' तुरन्त नापी जा सकेगी। इस प्रकार 'ख' से अगम्य वस्तु 'क' की दूरी तुरन्त ज्ञात हो जायगी।



तारों की गिनती करने का यंत्र

इस यंत्र पर दूरदर्शक-कैमेरा द्वारा लिये गये तारों के फ़ोटो की प्लेट लगाकर सूक्ष्मदर्शक द्वारा तारों की गणना की जाती है।

सूर्य और तारों की दूरियाँ भी ठीक इसी सिद्धान्त पर नापी गई हैं, परन्तु तारों के लिए विशेष कठिनाई इस बात में पड़ती है कि हमें काफ़ी बड़ी आधार-रेखा नहीं मिल पाती। यदि हम अपनी पृथ्वी के एक छोर से दूसरे छोर तक भी चले जायँ तो हमें कुल ८००० मील की दूरी मिलेगी और इतने से काम नहीं चल सकता। इतनी छोटी आधार-रेखा रहने पर निकटतम तारे के लिए भी उसकी दूरी आधार-रेखा की ३,००,००,००,००० गुनी होगी। इस प्रकार त्रिभुज 'कखग' में यदि 'खग' को १ इंच का रखा जायगा तो 'कख' की लंबाई ५०,००० मील होगी। ऐसे त्रिभुज से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसे त्रिभुज से आधार-कोण की नाप में नाममात्र की त्रुटि रहने पर तारे की दूरी शून्य से लेकर अनन्त दूरी तक चाहे कुछ भी निकल सकती है। अतएव पृथ्वी के व्यास की आधार-रेखा से हमारा काम नहीं चल सकता। परन्तु हम एकदम लाचार नहीं हैं। एक वर्ष में पृथ्वी सवा नौ करोड़ मील के अर्द्धव्यास के वृत्त में चक्कर लगाती है और इसलिए छः महीने में अपने स्थान से २ × सवा नौ करोड़, अर्थात् साढ़े अठारह करोड़ मील हट जाती है। इस प्रकार हमें साढ़े अठारह करोड़ मील लंबी आधार-रेखा मिल जाती है। सच पूछा जाय तो इतनी लम्बी आधार-रखा भी पर्याप्त रूप से बड़ी नहीं है, तो भी सावधानी से काम करने पर इस आधार-रेखा से निकट-तम डेढ़ दो हज़ार तारों की दूरी नापी जा सकती है। त्रिभुज 'क ख ग' में आधार-कोण 'ख' और 'ग' के ज्ञात हो जाने पर कोण 'क' का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि —जैसा सभी स्कूली लड़के अपनी ज्यामिति की पुस्तकों से जानते हैं—त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोण के बराबर होता है। परंतु ज्योतिषी दोनों आधार-कोणों को नापने के बदले एक ही आधार-कोण को नापता है और वह अगम्य वस्तु पर बने कोण को—कोण 'क' को—सीधे नाप लेता है। वास्तविक कठिनाई इसी कोण को नापने में पड़ती है। इसे सूक्ष्मता से नापने के लिए वह तारे का फ़ोटोग्राफ़ अपने अच्छे-से-अच्छे दूर-दर्शक से उपयुक्त अवसर पर लेता है और तब वह छः महीने बाद फिर उसी तारे का फ़ोटोग्राफ़ लेता है। 'ख क' की दिशा 'ग क' से भिन्न है, इसी प्रकार तारे की

दिशा भी छः महीने बाद भिन्न हो जाती है। फलतः फ़ोटोग्राफ़ में तारा पहलेवाले स्थान से कुछ हटा हुआ दिखलाई पड़ता है। कितना हटा है, इसे सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा फ़ोटो की प्लेटों को देखकर नाप लिया जाता है। इस नाप से प्रथम और द्वितीय वेधों के अवसरों पर तारे की दिशाओं का अंतर ज्ञात हो जाता है, अर्थात् त्रिभुज 'क ख ग' में कोण 'क' ज्ञात हो जाता है। ज्योतिषी दूरी 'ख ग' और कोण 'ख' जानता ही है, इसलिए त्रिभुज 'क ख ग' बना सकता है और तारे की दूरी को चित्र से जान सकता है (या त्रिकोणमिति से गणना कर सकता है)।

सिद्धान्त तो सरल है, परंतु इसे क्रियात्मक रूप में परिणत करने में कई कठिनाइयाँ पड़ती हैं। छः महीने में तारे की दिशा में साधारणतः इतना सूक्ष्म अंतर पड़ता है कि फ़ोटोग्राफ़ों में तारे की स्थितियों की दूरी में मनुष्य के बाल की मोटाई उतना भी अंतर नहीं पड़ता। बहुधा बाल की मोटाई के सौवें भाग से भी कम विचलन उत्पन्न हुआ करता है। इसलिए फ़ोटो की प्लेट पर तारे के विचलन को नापना बाल की खाल खींचने से भी अधिक दुस्तर है।

फिर फ़ोटो में तारे का विचलन पृष्ठभूमि के अनेक मंद तारों के चित्रों के हिसाब से नापा जाता है। परंतु साधारणतः इष्ट तारा इन पृष्ठभूमि वाले तारों से चमकीला होता है और इसलिए उसका चित्र अन्य तारों के चित्रों की अपेक्षा कहीं अधिक बड़ा* उतरता है। यंत्र आदि की त्रुटियों के कारण चित्र में तारा पूर्णतया गोल भी नहीं रहता। इसलिए इसके केन्द्र का ठीक-ठीक पता भी नहीं चलता ; और जब केन्द्र का ही पता नहीं तो यह कैसे नापा जाय कि दोनों चित्रों में केन्द्र ठीक एक ही स्थान पर है या हटा हुआ, और यदि हटा हुआ है तो कितना ? अनेक चेष्टा के बाद इस कठिनाई से अंत में मुक्ति मिल ही गई, परंतु विचित्र ढंग से। अब फ़ोटो लेते समय प्लेट के उस स्थान के सामने जहाँ चमकीले तारे की मूर्त्ति बनती है, एक छोटी-सी फिरकी लगा दी जाती है, जो नाचती रहती है। इस फिरकी में उचित नाप की एक झँझरी कटी रहती है, जिसके द्वारा होकर ही प्रकाश प्लेट तक पहुँच सकता है। फिरकी के नाचते रहने से फिरकी का छेद कभी प्रकाश के मार्ग में पड़ जाता है, कभी नहीं। इस प्रकार चमकीले तारे का पूरा प्रकाश प्लेट तक नहीं जा पाता, केवल एक अंश ही पहुँचता है। झँझरी की नाप ऐसी रक्खी जाती है कि चमकीले तारे का चित्र पृष्ठभूमि के तारों से अधिक चटक न उतरे। इस प्रकार अनेक कठिनाइयों पर बुद्धि से विजय पाकर आधुनिक ज्योतिषी ने तारों की प्रायः अनंत दूरी को नापने में, इस छोटी-सी पृथ्वी से बाहर गए बिना ही, सफलता प्राप्त की है। अचरज की बात है कि नन्हा-सा मनुष्य अपने बुद्धि-बल से क्या-क्या कर सका है !

*** यद्यपि चमकीला तारा भी बिन्दु सरीखा रहता है, तो भी हमारे वायुमण्डल की परिवर्त्तनशीलता, दूरदर्शक की त्रुटियों तथा फ़ोटो के प्लेट के अवगुणों के कारण तारा जितना ही अधिक चमकीला होता है उसका चित्र उतना ही अधिक बड़ा उतरता है।**

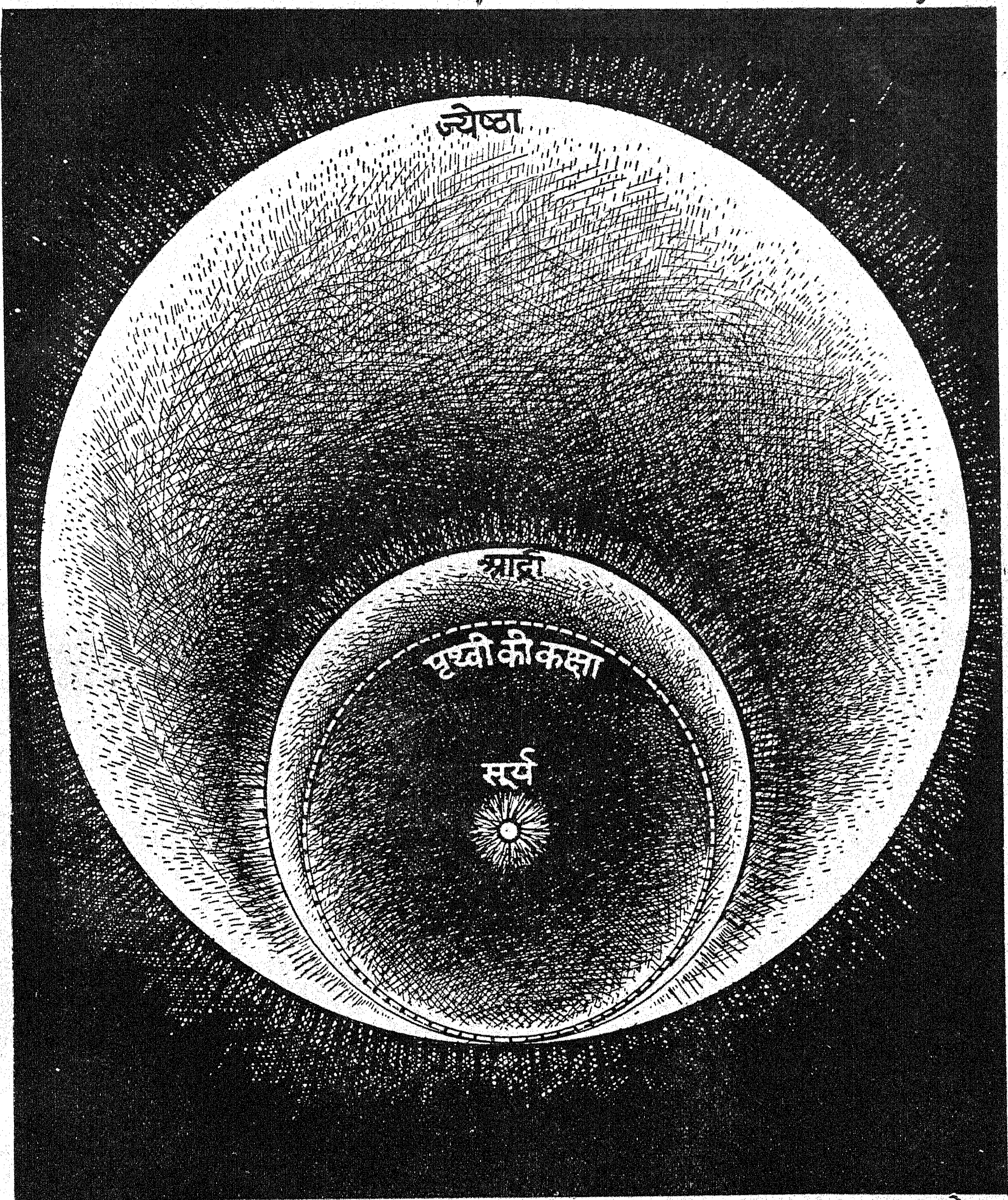
ऊपर की रीति से केवल निकटतम डेढ़-दो हज़ार तारों की ही दूरियाँ नापी जा सकती हैं ; शेष तारे इतनी दूर हैं कि उनकी दिशा में कोई अंतर पड़ता हुआ नहीं दिखलाई पड़ता, चाहे हम उन्हें यहाँ से देखें, चाहे साढ़े अठारह करोड़ मील हटकर ! छोटे बच्चे सौ दो सौ गज़ दौड़ते हैं और कहते हैं कि "चंदा मामा हमारे साथ-साथ दौड़ता है", क्योंकि वे देखते हैं कि सौ गज़ बढ़ जाने पर भी चंद्रमा उसी स्थिति में ही दिखलाई पड़ता है; अन्य पार्थिव वस्तुओं के समान उसकी दिशा नहीं बदलती। अधिकांश तारों के लिए साढ़े अठारह करोड़ मील भी बच्चों का खेलवाड़-सा ही है। इतने में उनकी दिशा नाममात्र भी नहीं बदलती। कुछ प्राचीन पाश्चात्य ज्योतिषियों ने पृथ्वी को अचल इसलिए भी बताया था कि यदि पृथ्वी चलती होती तो तारों की दिशाओं में अंतर पड़ता दिखलाई पड़ता ! वे बेचारे क्या जानते थे कि तारों की दूरियों के आगे पृथ्वी-कक्षा का व्यास पासंग भी न था !

दूरस्थ तारों की दूरियों का अनुमान उनकी प्रत्यक्ष और वास्तविक चमकों पर विचार करके किया जाता है। वास्तविक चमक का ज्ञान तारों के वर्णपट के अध्ययन से होता है। इसमें संदेह नहीं है कि तारों की दूरियों का आधुनिक अनुमान प्रायः सत्य है।

बीसवीं शताब्दी के आरंभ में तारों के नाप, तापक्रम, घनत्व आदि के विषय में कुछ ज्ञात नहीं था। परंतु आधुनिक खोज से हमारे ज्ञान में बड़ी वृद्धि हुई है और अब हम तारों के बारे में इतनी और ऐसी-ऐसी बातें जानते हैं कि जिनकी कल्पना भी प्राचीन ज्योतिषियों के लिए असंभव थी।

गुरुत्वाकर्षण

पकने पर आम गिरता है तो पृथ्वी की ही ओर क्यों गिरता है ? वह उड़कर आकाश की ओर क्यों नहीं चला जाता या पेड़ से टूटकर पेड़ के आसपास ही हवा में टिका क्यों नहीं रह जाता ? ये प्रश्न पागलों के प्रलाप



'दैत्य' तारों के दीर्घ आकार का कुछ-कुछ अनुमान आप इस चित्र द्वारा कर सकते हैं !

चित्र में ज्येष्ठा (Antares) और आर्द्रा (Betelgeux) नामक दो भीमकाय तारों की सूर्य के आकार से तुलना की गई है । ज्येष्ठा तो इतना बड़ा है कि उसमें हमारे सूर्य के बराबर कई करोड़ तारे आ सकते हैं और आर्द्रा की परिधि में हमारी पृथ्वी की सारी कक्षा की परिधि समा सकती है ! इतने विशाल पिंडों के आकार-प्रकार की कल्पना करना ही हमारे लिए कठिन है, परन्तु आज के ज्योतिषी उनके व्यासों को नापने में सफल हुए हैं और उन्होंने इन आकाशीय पिंडों का घनत्व भी जान लिया है। इन तारों का व्यास नापने के लिए 'इंटरफिअरोमीटर' नामक जिस यंत्र का प्रयोग किया जाता है, उसका चित्र पृ० २९७९ पर दिया गया है। बृहद् दैत्य तारों में ज्येष्ठा का व्यास सूर्य से ४९० गुना, 'क शौरी' नामक तारे का ४०० गुना, आर्द्रा का ३०० गुना और 'द तिमि' का ३०० गुना नापा गया है । जहाँ कुछ तारे इतने विशाल हैं, वहाँ कुछ अत्यधिक छोटे भी हैं। वे 'वामन तारे' कहलाते हैं । इन वामन तारों का घनत्व इतना अधिक है कि आश्चर्य होता है । उनमें से कई का घनत्व पानी से ९०००० गुना तक है !

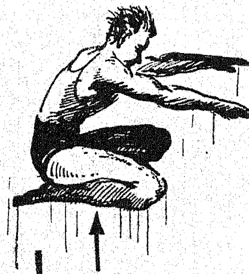
जैसे संभवतः जान पड़ें, परन्तु ऐसे ही प्रश्नोंपर विचार करने पर वह नियम मिला जिससे तारे भी तौले जा सके। इंगलैंड का प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन इस विचार में मग्न होकर कि चंद्रमा पृथ्वी की प्रदक्षिणा क्यों करता है—वह सरल रेखा में क्यों नहीं चलता—एक दिन अपनी वाटिका में बैठा था कि इतने में एक सेब पेड़ से टूटकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। बस, न्यूटन को अपने प्रश्नों का उत्तर मिल गया! उसने निश्चय किया कि जो शक्ति सेब को पृथ्वी की ओर खींचती है वही शक्ति चंद्रमा को भी पृथ्वी की ओर खींचती है और उसे सरल रेखा में न चलने देकर अपने चारों ओर नचाती है; इतना ही नहीं, वही शक्ति पृथ्वी को भी सूर्य की प्रदक्षिणा करने के लिए बाध्य करती है। वही शक्ति ग्रहों को भी सूर्य के चारों ओर प्रेरित करती है और उपग्रहों से ग्रहों का चक्कर कटवाती है। इस शक्ति का नाम न्यूटन ने ग्रैविटी (गुरुत्वाकर्षण) रक्खा। न्यूटन तो अपने अनुसंधानों के कारण अमर हो ही गया है, साथ ही वलुए में सेब का वह पेड़ भी अमर हो गया, जिससे सेब गिरा था! उसकी शाखा का एक टुकड़ा रॉयल ऐस्ट्रानॉमिकल सोसायटी के भवन में सुरक्षित है।

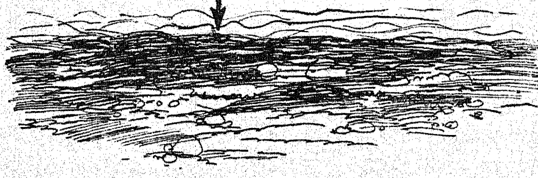
न्यूटन ने गणित और वेध के बल पर गुरुत्वाकर्षण के जिन नियमों का पता लगाया, वे यों हैं—

विश्व के प्रत्येक दो पिंड एक दूसरे को सदा आकर्षित करते रहते हैं। एक पिंड दूसरे को जितने बल से खींचता है, ठीक उतने ही बल से दूसरा पिंड भी पहले को खींचता है। इस बल की मात्रा पिंडों की रासायनिक बनावट पर निर्भर नहीं है, केवल उनके द्रव्यमानों और उनकी दूरी पर निर्भर है। दोनों के द्रव्यमानों का गुणनफल जितना ही अधिक होगा, आकर्षण उतना ही अधिक होगा। दोनों पिंडों के बीच की दूरी जितनी अधिक होगी, आकर्षण उसके वर्ग के अनुपात में कम होगा। उदाहरणतः यदि दूरी दूनी हो जायगी तो आकर्षण चौथाई हो जायगा; दूरी तिगुनी हो जायगी तो आकर्षण नवम अंश ही रह जायगा।

गुरुत्वाकर्षण की महत्ता इसमें है कि यह सर्वव्यापी है। एक ही नियम पृथ्वी पर भी लागू है, सूर्य पर भी, और तारों पर भी। गुरुत्वाकर्षण से कोई बच नहीं सकता। सर्दी और आँच से हम अपने कपड़ों के बल पर बच सकते हैं, शब्द से हम शब्द-अभेद्य कोठरी में घुसकर छुटकारा पा सकते है, प्रकाश से मुक्ति मिलना और भी सरल है—केवल दरवाज़े और खिड़कियाँ बंद कर देने से ही पूर्ण अंधकार उत्पन्न किया जा सकता है, और धातु के पिंजड़े में बैठकर हम विद्युत् से भी बचाव कर सकते है, परंतु गुरुत्वाकर्षण से बचने के लिए कोई उपाय अभी तक नहीं निकला है। यदि ऐसी कोठरी होती, जिसके भीतर गुरुत्वाकर्षण न होता तो वहाँ हाथ से







(ऊपर) वाटिका में पेड़ पर से सेब को गिरते देखकर न्यूटन द्वारा गुरुत्वाकर्षण-सिद्धान्त की खोज। (दाहिनी ओर) क्या आप जानते हैं कि जब आप ऊपर उछलते हैं तो आपके धक्के से पृथ्वी नीचे को धँसती है? यह न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण और गतिशास्त्र-संबंधी उस नियम का वैचित्र्य है, जिसके अनुसार प्रत्येक क्रिया और प्रतिक्रिया बराबर होती है! उछलने पर जब आप पृथ्वी से ऊपर जाते हैं तो पृथ्वी आपसे नीचे की ओर जाती है! फिर पृथ्वी जब आपको अपनी ओर आकर्षित करती है तो आप धमाक से नीचे गिरते हैं, परन्तु ठीक उतने ही बल से आप भी धरती को अपनी ओर खींचते हैं! वस्तुतः गुरुत्वाकर्षण का यह नियम इतना सर्वव्यापी है कि यदि हम एक उँगली भी उठाएँ तो उससे भी सारे विश्व में एक हलचल होती है, चाहे वह नगण्य ही हो!

छूटने पर प्याली भूमि पर न गिरती और हम स्वयं वैसे ही हल्के लगते, जैसे चरखी पर चढ़कर नीचे गिरते समय !

आइन्स्टाइन की खोजों के कारण न्यूटन के नियमों में अब हमें कुछ त्रुटियाँ दिखलाई पड़ती हैं, परंतु आइन्स्टाइन और न्यूटन के नियमों में इतना सूक्ष्म अंतर है कि प्रायः सभी साधारण कामों के लिए उसकी अवहेलना की जा सकती है।

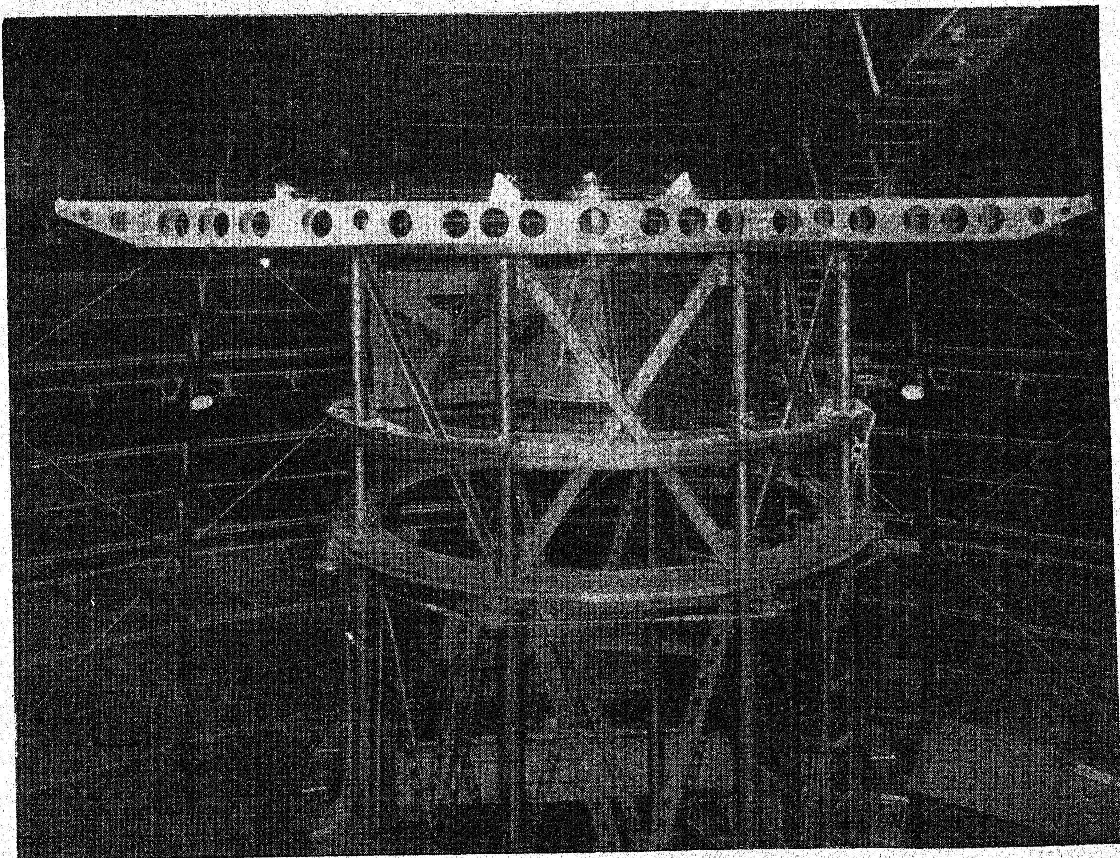
गुरुत्वाकर्षण-नियमों के कुछ विचित्र परिणाम

गुरुत्वाकर्षण-नियमों से कुछ विचित्र परिणाम निकलते हैं। एक तो यह है कि आप जब चाहें तब पृथ्वी को डिगा सकते हैं ! कैसे ? जब आप उछलते हैं तो आप ऊपर जाते है, परंतु पृथ्वी अचल नहीं रह पाती, वह भी नीचे जाती है ! यह न्यूटन के उस गतिशास्त्र-संबंधी नियम का परिणाम है जो कहता है कि क्रिया और प्रतिक्रिया बराबर होती हैं। जब आप अपनी मुड़ी हुई टाँगें एकाएक सीधी करके उछलते हैं तब जितना बल आपके शरीर पर लगता है उतना ही पृथ्वी पर भी ! आप ऊपर जाते हैं तो पृथ्वी नीचे जाती है ! आपके शरीर के द्रव्यमान* की अपेक्षा पृथ्वी का द्रव्यमान बहुत अधिक है, इसी से पृथ्वी आपकी अपेक्षा बहुत कम चल पाती है, परंतु कुछ चलती अवश्य है।

फिर, जब उछलने पर आप हवा में रहते हैं तो पृथ्वी आपको अपनी ओर आकर्षित करती है, आपमें वेग उत्पन्न होता है और आप धमाक से पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं, परंतु साथ-ही-साथ आप भी पृथ्वी को ठीक उतने ही बल से आकर्षित करते हैं और पृथ्वी आपकी ओर खिंच आती है !

वस्तुतः आप एक उँगली भी उठाएँ तो पृथ्वी ही क्या, सारे विश्व में परिवर्त्तन हो जाता है, क्योंकि आपकी उँगली गुरुत्वाकर्षण के नियमों के अनुसार पृथ्वी, ग्रह, सूर्य और

* वह संख्या जो सूचित करे कि पिंड में कितना द्रव्य है, उस पिंड का द्रव्यमान कहलाती है। मोटे हिसाब से इसे उस पिंड का तौल समझा जा सकता है।



तारों का व्यास नापने के लिए माउण्ट विल्सन के १०० इंची दूरदर्शक के सिर पर बाँधी जानेवाली २० फ़ीट लंबी धरन या 'इंटरफिअरोमीटर' (फ़ोटो—'माउण्ट विल्सन वेधशाला' से प्राप्त)

तारों को आकर्षित करती रहती है। उँगली की स्थिति में परिवर्त्तन होने से विश्व के सब पिंडों पर कुछ प्रभाव पड़ ही जाता है—यह बात दूसरी है कि यह प्रभाव इतना कम होता है कि उसे कोई देख नहीं सकता।

गुरुत्वाकर्षण की नाप

वैज्ञानिकों ने सीसे के बड़े-बड़े गोले बनाकर उनके बीच के गुरुत्वाकर्षण को नापा है। अवश्य ही वेध अत्यंत सूक्ष्म होते हैं, क्योंकि यदि गोले एक-एक मन के भी हों और उनके केंद्रों के बीच की दूरी एक फुट ही रहे तो भी उनके बीच का गुरुत्वाकर्षण-बल १/१३०० रत्ती (एक रत्ती की तौल का कुल तेरहसौवाँ भाग) ही होगा। वैज्ञानिकों ने इस सूक्ष्म बल को नापने के लिए ऐसा प्रबंध किया कि यह बल स्फटिक के एक लंबे परंतु बहुत महीन तार को ऐंठ दे। तब यह देखकर कि तार कितना ऐंठ उठा, उन्होंने बल की मात्रा को जान लिया!

इस प्रकार ज्ञात हो गया कि एक मन के पिंड को जब कोई दूसरा पिंड एक फुट की दूरी से आकर्षित करता है और गुरुत्वाकर्षण-बल १/१३०० रत्ती होता है तो आकर्षण करनेवाले पिंड का द्रव्यमान १ मन होता है। तब न्यूटन के नियमों के बल पर उन्होंने गणना की कि पृथ्वी का द्रव्यमान क्या होगा, जब पृथ्वी १ मन के पिंड को ४००० मील की दूरी से आकर्षित करती है और गुरुत्वाकर्षण-बल १ मन होता है! स्मरण रहे कि पृथ्वी का केंद्र इसकी सतह से ४००० मील पर है, और १ मन सीसे की तौल एक मन इसीलिए है कि पृथ्वी उसे एक मन की तौल के बराबर बल से खींचती है। इस प्रकार पृथ्वी के द्रव्यमान की गणना सुगमता से हो जाती है और पता चलता है कि पृथ्वी का तौल है लगभग १,६०,००,००,००,००,००,००, ००,००,००,००० मन!

सुविधा के लिए वैज्ञानिक इस संख्या को १६×१०^{२२} लिखता है, क्योंकि १६ के बाद इसमें २२ शून्य हैं, परंतु यह इतनी बड़ी संख्या है कि इसकी ठीक-ठीक कल्पना हम नहीं कर सकते!

सूर्य और तारों की तौल

न्यूटन के गतिशास्त्र-संबंधी तथा आकर्षण-संबंधी नियमों से पता चलता है कि यदि एक पिंड, जैसे पृथ्वी, दूसरे पिंड, जैसे सूर्य, की प्रदक्षिणा करे तो प्रदक्षिणा-काल, पिंडों के बीच की दूरी और उनके द्रव्यमानों के योग के बीच संबंध रहता है। इन राशियों में से सूर्य के द्रव्यमान को छोड़कर अन्य सब राशियाँ हमें ज्ञात हैं। इसलिए गणना से पता चल जाता है कि सूर्य पृथ्वी से कितना गुना भारी है। अब पृथ्वी का द्रव्यमान हम जानते हैं, इसलिए सुगमता से ज्ञात हो जाता है कि सूर्य का द्रव्यमान क्या है! इस प्रकार पता चलता है कि सूर्य का द्रव्यमान ५×१०^{२८} मन है!

उपरोक्त रीति से तौल या द्रव्यमान जानना बहुत-कुछ वैसा ही है जैसे दो लड़कों को एक दूसरे का हाथ पकड़कर नाचते हुए हम देखें और उनके वेग और उनके बीच की दूरी को देखकर हम पता लगा लें कि लड़के कितने भारी हैं। लड़के जितने ही भारी-भरकम होंगे, एक चक्कर में समय उतना ही अधिक लगेगा। इस दृष्टांत और ग्रहादि की प्रदक्षिणा में अंतर केवल इतना ही है कि लड़के इच्छानुसार न्यूनाधिक वेग से नाच सकते हैं, परंतु आकाशीय पिंड इच्छारहित, आकर्षण-सिद्धांतबद्ध वेग से ही चक्कर लगा सकते हैं।

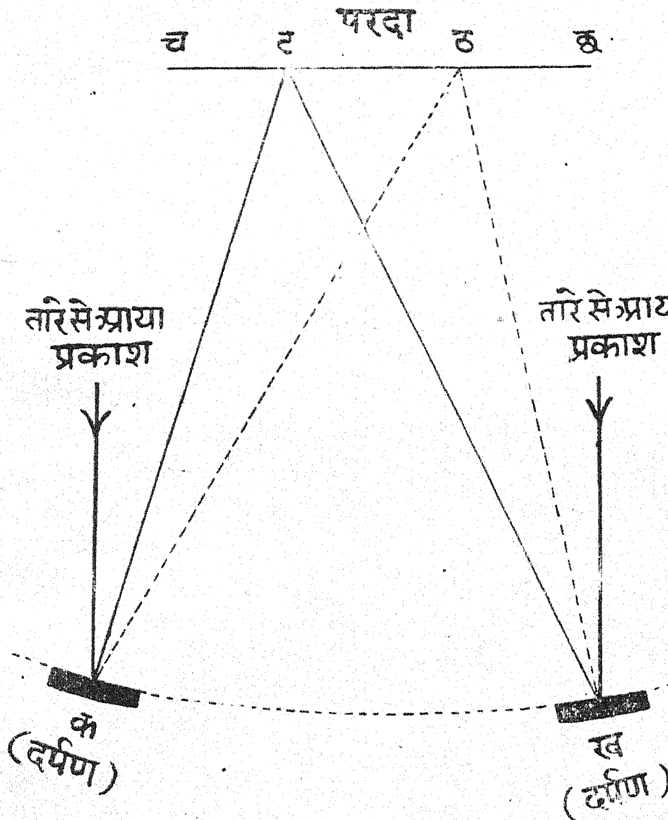
आकाश में कुछ तारे ऐसे हैं, जो वस्तुतः दोहरे हैं। वे इतने निकट हैं कि कोरी आँख से वे हमें साधारण तारे-से दिखलाई पड़ते हैं, परंतु बड़े दूरदर्शक से देखने पर हम उनका सच्चा स्वरूप देख सकते हैं। उनमें दो गोल पिंड होते हैं, जिनमें छोटा पिंड दूसरे की प्रदक्षिणा करता रहता है। इन युग्म तारों के बीच की दूरी नापी जा सकती है। उनका प्रदक्षिणा-काल भी हम वेधों द्वारा जानते हैं। इसलिए हम गणना द्वारा ऐसे तारों का द्रव्यमान जान सकते हैं। इस प्रकार पता चला है कि तारों की तौलों में उतना अंतर नहीं है, जितना उनकी चमक या नाप में। बहुत थोड़े-से ही तारे हमारे सूर्य की तौल के दसगुने से अधिक भारी होंगे, और सूर्य की तौल के दशम अंश से कम भारी तारे शायद ही होते हों। हमारा सूर्य साधारण तारे से कुछ अधिक ही भारी है।

तारों की वास्तविक चमक

हम देख चुके हैं कि तारों की तौल में अधिक विचित्रता नहीं है, परंतु उनकी वास्तविक चमक में महान् अंतर देखने में आता है। कुछ तारे तो ऐसे फीके हैं—उनकी वास्तविक चमक इतनी कम है—कि वे हमें दिखलाई भर दे जाते हैं। वे यदि कुछ ही और फीके होते तो हम उन्हें देख न पाते। दूसरी ओर ऐसे प्रदीप्त तारे भी हैं कि उनके एक वर्ग इंच से निकली आँच दस हज़ार अश्वबल के इंजिन को चालू रख सकती है और राई के बराबर क्षेत्रफल से निकला प्रकाश एक हज़ार मोमबत्ती की शक्ति की बिजली-बत्ती को भी मात कर सकता है। विभिन्न तारों को तो जाने दीजिए, युग्म तारों के दोनों तारों की वास्तविक

चमकों में आश्चर्यजनक अंतर रह सकता है। उदाहरणतः हमारे आकाश का सबसे चमकीला तारा, लुब्धक, युग्म तारा है। परंतु उसका प्रायः सब प्रकाश प्रधान तारे से ही आता है। इसका साथी तारा पूरे प्रकाश का दस हज़ारवाँ भाग भी नहीं देता, क्योंकि उसकी वास्तविक चमक बहुत कम है।

सूर्य की दूरी और प्रत्यक्ष चमक हमें ज्ञात है। इन ज्ञात राशियों के आधार पर गणना करने से पता चलता है कि सूर्य से हमें उतना प्रकाश मिलता है, जितना ३,००,००,००,००,००,००,००,००,००,००,००,००० मोमबत्तियों से! परंतु यह न समझना चाहिए कि हमारा सूर्य ही सब से अधिक वास्तविक चमकवाला आकाशीय पिंड है। ऐसे भी तारे हैं, जिनकी वास्तविक चमक सूर्य की अपेक्षा ३,००,००० गुना अधिक है। यदि कहीं हमारा सूर्य उन तारों की तरह चमकीला हो जाय तो हम सब क्षण भर में जल कर भस्म हो जायँ; इतना ही नहीं, पृथ्वी और पृथ्वी पर की सभी वस्तुएँ वाष्परूप में परिणत हो जायँ!



तारों का व्यास नापने की विधि

तारों का व्यास नापने के लिए जिस विधि से काम लिया जाता है, उसका सिद्धान्त इस मानचित्र द्वारा प्रदर्शित किया गया है। इसी सिद्धान्त के बल पर इंटरफिअरोमीटर नामक उस यंत्र की रचना की गई है, जो पृ० २५७९ के चित्र में प्रदर्शित है। प्रस्तुत मानचित्र को समझने के लिए पृ० २५७८ का मैटर पढ़िए।

तारों की चमक

तारों की वास्तविक चमकों में जो अंतर है, वह क्या तारों के तापक्रमों पर निर्भर है, या उनके छोटे-बड़े होने पर, या दोनों कारणों पर? तापक्रम का ज्ञान हमें तारों के रंग से हो जाता है। लोहार को आग में लोहा तपाते हुए सभी ने देखा होगा और यह भी देखा होगा कि पहले लोहा बिना चमक के रहता है; फिर मंद लाल प्रकाश से वह चमकता है। जब लोहा और तपाया जाता है, तब वह चटक लाल प्रकाश से चमकता है। अधिक तप्त करने पर लोहे से नारंगी और फिर पीला प्रकाश निकलने लगता है। लोहे को साधारण भट्ठी में अधिक गरम करना कठिन है, परंतु सभी ने देखा होगा कि जब बैटरी की शक्ति कम रहती है तब बिजली की बत्ती का तार केवल लाल होकर रह जाता है। जब बैटरी नई रहती है, तब तार सफ़ेद रंग से चमकता है। यदि हम बत्ती के तार को और गरम कर सकते तो वह और भी चमकने लगता और उसके प्रकाश में नीलापन आ जाता।

इससे प्रत्यक्ष है कि चमक के रंग से हम तापक्रम का अच्छा ज्ञान कर सकते हैं। आँका गया है कि मंद लाल प्रकाश से चमकनेवाले तारों का तापक्रम लगभग २,५०० डिगरी फ़ा० होता होगा। पीले तारों का तापक्रम लगभग ५००० डिगरी फ़ा० होगा। सूर्य का तापक्रम इसका लगभग दूना होगा। तप्ततम तारों का तापक्रम संभवतः ७०,००० डिगरी होगा। ये तापक्रम इतने अधिक हैं कि पृथ्वी पर वैसे तापक्रम किसी भी प्रकार उत्पन्न नहीं किए जा सके हैं। बिजली की भट्ठी का भी तापक्रम ३,००० डिगरी फ़ा० से

अधिक नहीं हो पाता और कृत्रिम आँचों द्वारा उत्पन्न यही हमारा महत्तम तापक्रम है।

तापक्रम जानने से हमें पता चल जाता है कि तारे के एक वर्ग इंच से कितना प्रकाश आता होगा। फिर तारे की वास्तविक चमक हमें ज्ञात है ही। इसलिए गणना द्वारा पता चल जाता है कि तारे का क्षेत्रफल, और इसलिए उसका व्यास, कितना बड़ा होगा। परंतु इस प्रकार की गणना से जो परिणाम निकलता है वह इतना विचित्र है कि विश्वास ही नहीं होता कि तारे इतने बड़े भी हो सकते हैं। उदाहरणतः आर्द्रा नामक तारा इतना बड़ा है कि उसमें हमारे सूर्य के बराबर कई करोड़ तारे आ सकते हैं! और यह बात नहीं है कि हमारा सूर्य आकाश का लघुतम तारा है। इससे बहुत छोटे-छोटे भी तारे हैं। फान मानेन का तारा इतना छोटा है कि उसके बराबर कई लाख तारे हमारे सूर्य में आ जायँगे और फिर भी कुछ स्थान रिक्त रह जायगा!

तारों की नापों में इतनी विभिन्नता का रहना संदेह उत्पन्न करने लगा कि गणना में कहीं भूल तो नहीं हुई, विशेष-कर जब देखा गया कि उनके तौलों में विशेष अंतर नहीं है। सौभाग्यवश १९२० में ज्योतिषी बड़े तारों के व्यासों को सीधे नापने में सफल हुए और तब पता चला कि वस्तुतः कुछ तारे अत्यन्त दीर्घकाय हैं और गणना में कोई भूल नहीं हुई है।

तारों का व्यास

जब हारमोनियम के किसी एक परदे को दबाया जाता है, तब एक समान शब्द निकलता है, परंतु जब दो समी-पस्थ परदों को एक साथ ही दबाया जाता है, तब एक समान ध्वनि निकलने के बदले थरथराता-सा शब्द निक-लता है। क्यों? वैज्ञानिक बतलाते हैं कि शब्द वायु में बनी लहरों के कारण उत्पन्न होता है। जब दो समीपस्थ परदे, जैसे स और कोमल रे, एक साथ दबाये जाते हैं तो दो लहरें निकलती हैं। इन लहरों की लहर-लंबाई भिन्न होती है। इसका परिणाम यह होता है कि कहीं एक लहर की चोटी पर दूसरी लहर की चोटी पड़ती है, तो कहीं एक लहर की चोटी पर दूसरी लहर की पेंदी पड़ जाती है। जब चोटी पर चोटी पड़ती है, तब शब्द ज़ोरदार और पेंदी पर चोटी पड़ती है तो धीमा हो जाता है।

ठीक इसी प्रकार प्रकाश का भी हाल है। उदाहरण के लिए पृ० २५७७ के मानचित्र पर ग़ौर कीजिए। यदि दो दर्पण क और ख पर एक ही तारे से प्रकाश पड़े, और तब प्रकाश मुड़कर परदे च छ पर पड़े, तो परदे पर समरूप से प्रकाश दिखलाई पड़ने के बदले ठ पर काली और ट पर सफ़ेद धारी दिखायी पड़ेगी। इसका कारण यह है कि मार्ग क ट = मार्ग ख ठ है; इसलिये जब क और ख से प्रक्षेपित प्रकाश-किरणें ट पर पहुँचेंगी तो वहाँ प्रकाश-तरंग की चोटियाँ एक दूसरे पर पड़ेंगी। परंतु मार्ग क ठ की लंबाई मार्ग ख ठ से अधिक है। यदि इन दोनों मार्गों का अंतर ठीक एक तरंग-लंबाई का आधा हो तो ठ तक पहुँचने पर क से आई तरंगों की पेंदियों पर ख से आई तरंगों की चोटियाँ पड़ेंगी और इसलिए वहाँ अँधेरा रहेगा।

सफ़ेद और काली धारियों के बीच की दूरी, अर्थात् ट ठ की लंबाई, क और ख के बीच की दूरी पर निर्भर है। क ख को छोटा-बड़ा करके ट ठ को घटाया-बढ़ाया जा सकता है।

ऊपर के वर्णन में मान लिया गया है कि तारा बिंदु-सरीखा है। यदि तारा बिंदु के बदले वृत्त हो—उसका व्यास शून्य के बदले अशून्य हो—तो तारे के प्रत्येक बिंदु से धारियाँ बनेंगी। मोटे हिसाब से यदि हम तारे के दो आधे भागों को दो बिंदु समझें तो हम आशा कर सकते हैं कि प्रत्येक आधे भाग से काली और सफ़ेद धारियाँ बनेंगी। क या ख से देखने पर तारे के दो आधे भागों की दिशाएँ विभिन्न हैं। इसलिए प्रत्येक आधे भाग से बनी धारियाँ एक-दूसरे से थोड़ा-सा हटकर बनेंगी। अब यदि क और ख के बीच की दूरी इतनी कर दी जाय कि प्रत्येक आधे भाग से बनी धारियों में से काली धारी काली पर पड़े और सफ़ेद धारी सफ़ेद पर, तब तो धारियाँ बहुत स्पष्ट दिखलायी पड़ेंगी। परन्तु यदि क और ख के बीच की दूरी इतनी रक्खी जाय कि काली पर सफ़ेद धारियाँ पड़ें तो लीपापोती हो जायगी और धारियाँ मिट जायँगी। जब ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाती है तो क और ख के बीच की दूरी नाप ली जाती है। तब गणना से पता चल जाता है कि तारे के दो आधे भागों के केन्द्रों के बीच की कोणीय दूरी क्या है। इससे तारे का कोणीय व्यास ज्ञात हो जाता है। यदि तारे की दूरी ज्ञात हो तो पता चल जाता है कि तारे का व्यास कितने मील का है।

तारों के व्यासों के नापने का ऊपर वाला सिद्धान्त सरल है और १८९० ई० में ही इसके लिए आवश्यक यंत्र का अन्वेषण हो गया था। परन्तु कई क्रियात्मक कठिनाइयों के कारण सन् १९२० तक किसी तारे का व्यास नहीं नापा जा सका। उस वर्ष १३ दिसम्बर को आर्द्रा का व्यास नापा

गया। पीछे ६ अन्य तारों का भी व्यास नापा गया। छोटे तारों के व्यास नहीं नापे जा सके हैं, क्योंकि हमारे यंत्र काफ़ी बड़े नहीं हैं। आर्द्रा आदि तारों के व्यासों को नापने के लिए संसार के सबसे बड़े, १०० इंचवाले, दूरदर्शक के सिर पर २० फ़ीट लम्बी एक धरन बाँधी गई थी और इसी धरन के सिरों के पास दर्पण रक्खे गए थे। छोटे तारों के व्यासों को नापने के लिए २० फ़ीट से कहीं लम्बी धरन की आवश्यकता पड़ेगी, और अभी हमारे पास कोई दूरदर्शक नहीं है, जिस पर इतनी लम्बी धरन लगाई जा सके।

चमक और रंग के आधार पर गणना द्वारा प्राप्त व्यासों और सीधे नापे गए व्यासों में अच्छी समता है। इसलिए अब कोई दुविधा नहीं रह गई है। कुछ तारे वस्तुतः अति विशाल हैं। ये दीर्घकाय तारे 'दैत्य' तारे कहलाते हैं। दैत्यों में भी जो बहुत बड़े हैं वे 'बृहद् दैत्य' तारे कहलाते हैं। छोटे तारे 'वामन' तारे कहलाते हैं। हमारा सूर्य एक वामन तारा है। कुछ दैत्य तारों का व्यास नीचे दिया जाता है:—

नाम	व्यास सूर्य के व्यास से कितना गुना बड़ा
ज्येष्ठा	४५०
क शौरी	४००
आर्द्रा	३००
द तिमि	३००

आश्चर्यजनक घनत्व

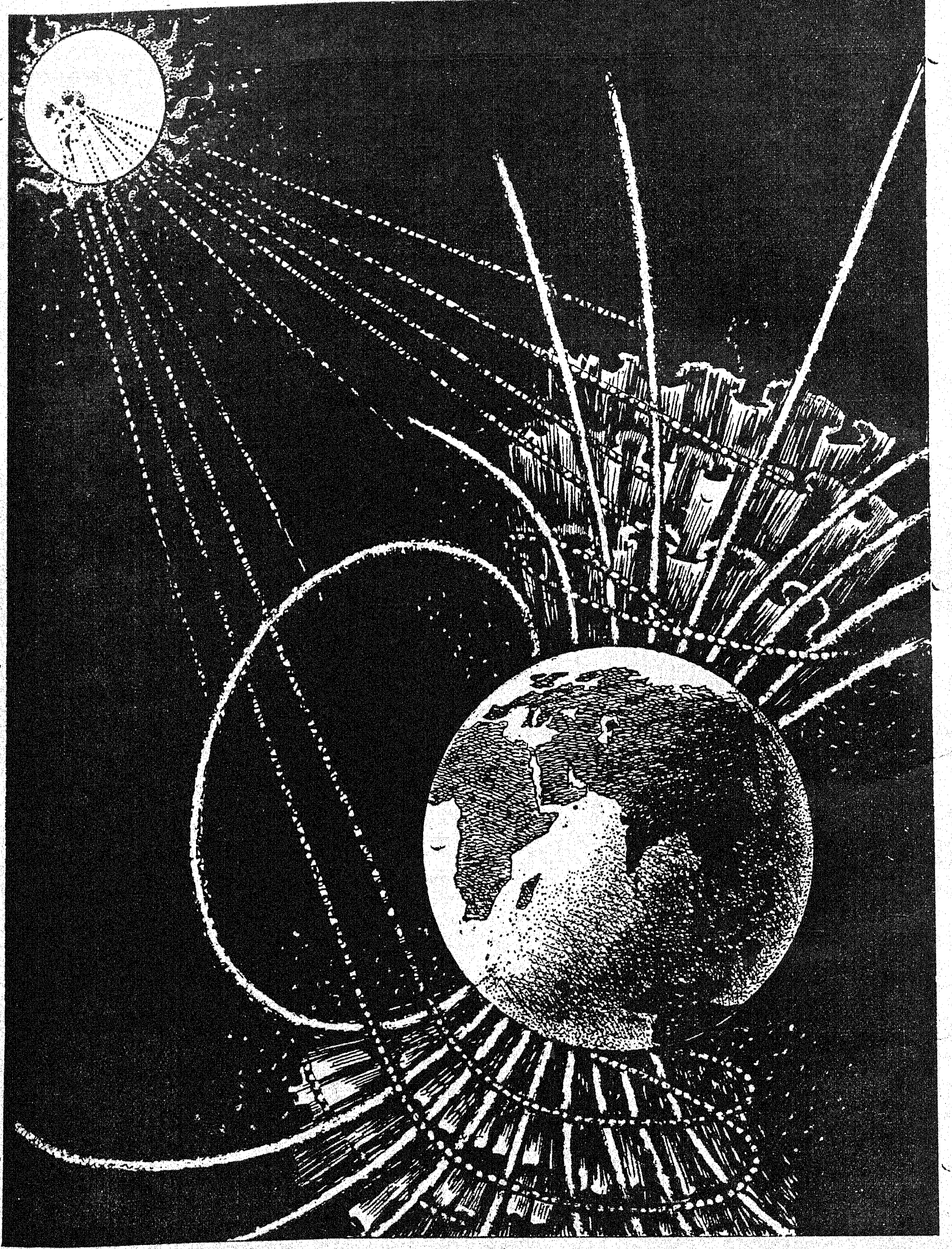
इधर दैत्य तारे तो इतने बड़े हैं कि वे गैस के गुब्बारे-से जान पड़ते हैं, उधर वामन तारे इतने ठोस हैं कि विश्वास ही नहीं होता कि कोई पदार्थ इतना ठोस हो सकता है! हम देख चुके हैं कि तारों की तौल में विशेष अन्तर नहीं है, परन्तु उनकी नापों में महान् अन्तर है, इतना कि यदि हम दैत्य तारों की तुलना हाथी से करें तो छोटे तारे मच्छड़ से भी छोटे होंगे। इसलिए परिणाम यही निकलता है कि तारों के घनत्व में भी बहुत अन्तर होता होगा। और वस्तुतः जब गणना की जाती है तो आश्चर्य-जनक उत्तर मिलता है। उदाहरणतः लुब्धक के छोटे साथी का घनत्व पानी से पचास हज़ार गुना भारी है! इस तारे का व्यास और द्रव्यमान हमें ज्ञात है, इसलिए घनत्व की गणना में त्रुटि की संभावना नहीं है।

पृथ्वी पर सब से भारी द्रव्य प्लैटिनम है। इसका घनत्व २१'४ है, अर्थात् यह पानी की अपेक्षा लगभग साढ़े इक्कीस गुना भारी है। सोना पानी से साढ़े उन्नीस गुना भारी है और सीसा (धातु) लगभग ग्यारह गुना। लुब्धक के साथी तारे का घनत्व पानी से पचास हज़ार गुना भारी है, तब तो वह बड़ा ही विचित्र पदार्थ होगा। यदि इस वस्तु की अँगूठी बनाई जाय तो जहाँ उतने सोने का वज़न आधा तोला होगा वहाँ इसका आठ मन होगा!!! कुछ वर्ष पहले वैज्ञानिक भी इतने अधिक घनत्व के अस्तित्व को मानने के लिए तैयार न होते। परंतु आधुनिक वैज्ञानिकों का विश्वास है कि परमाणु ठोस नहीं होते। उनकी रचना ऐसी है कि केंद्र पर एक धनाणु होता है और उसके चारों ओर एक या अधिक ऋणाणु चक्कर लगाते रहते हैं। तारों के भीषण तापक्रम के कारण धनाणु और ऋणाणु अलग हो जाते होंगे और तब गुरुत्वाकर्षण या अन्य शक्ति से इतने घने कण उठते होंगे कि जल से ५०,००० गुना घनत्व संभव हो सकता होगा।

तारों के वर्णन में नील और पद्म मीलों से लेकर शंख, महाशंख मीलों तक की दूरियाँ; करोड़, दस करोड़ मील तक के व्यास; शंख, महाशंख से भी कहीं अधिक मनों की तौल; इन संख्याओं से भी बड़ी संख्या की मोमबत्तियों का प्रकाश; ये सब इतनी बड़ी राशियाँ हैं कि मनुष्य का मस्तिष्क चक्कर में पड़ जाता है! परंतु ज्योतिष में ऐसी बड़ी संख्याओं की बार-बार आवश्यकता पड़ती है, यहाँ तक कि एक मुहावरा ही बन गया है—'ज्योतिषिक संख्याएँ!'

नाम	रंग	चमक	व्यास	तौल	घनत्व	सतह का तापक्रम
सूर्य	**पीला**	१	१	१	१'४१	६०००° सेंटीग्रेड
लुब्धक	**श्वेत**	२६	१'८	२'४	'४२	११०००
स्वाती	**नारंगी**	१००	२७	८	'०००३	४३००
आर्द्रा	**लाल**	१२००	२६०	१५	६×१०^{-७}	३१००
ज्येष्ठा	**लाल**	३४००	४५०	३०	३×१०^{-७}	३१००
मृगपद	**निलछौंह**	१८०००	३०	६०	'००२	१६०००
अगस्त्य	**श्वेत**	८००००	'१००	१००	'०००१	११०००
लुब्धक का छोटा साथी	**श्वेत**	'००३	'०३४	०'९६	२७०००	७५००

कुछ प्रसिद्ध तारों के आकार-प्रकार की सूर्य से तुलना



सूर्य-कलंक जब अधिक दिखाई देते हैं, तब पृथ्वी की चुंबकीय शक्ति में मानों तूफ़ान आ जाता है, जिससे दिशासूचक यंत्र, रेडियो, आदि सभी में गड़बड़ी पैदा हो जाती है। कारण यह होता है कि सूर्य के इन गड्ढों से अगणित ऋणात्मक विद्युत कणों की एक बौछार-सी निकलकर पृथ्वी के वायुमंडल के बाह्य स्तर से टकराती है और उसके विद्युत कणों को अलग कर देती है। इन्हींके चुंबकीय प्रभाव से दोनों ध्रुवों पर 'अरोरा' की विचित्र रंगीन द्युति प्रकट होती है।



पृथ्वी एक महान् चुम्बक के रूप में

पिछले अंक में हमने देखा कि आज से हज़ारों वर्ष पूर्व लोगों ने चुम्बक के दिशासूचक गुण का पता पा लिया था। चीन-निवासी इस क्षेत्र में सबसे आगे बढ़े हुए थे। लगभग ११०० वर्ष ईस्वी पूर्व ये लोग स्थल पर चलनेवाली गाड़ियों के दिशा-निर्देशन के लिए चुम्बक लोहे का प्रयोग करते थे। गाड़ी की ध्वजा पर एक हलकी-सी मूर्त्ति समतुलित रहती थी, जिसके हाथ उसके अन्दर लगे हुए चुम्बक लोहे के घूमने पर उत्तर-दक्षिण दिशा बतलाते थे। कुछ विशेषज्ञों का मत है कि चीन-निवासियों को इस बात का भी पता था कि चुम्बकीय दिशासूचक यंत्र की सुई ठीक भौगोलिक उत्तर-दक्षिण दिशा नहीं बतलाती। वे जानते थे कि चुम्बकीय उत्तर-दक्षिण तथा भौगोलिक उत्तर-दक्षिण धरातल के बीच कुछ बल रहता है।

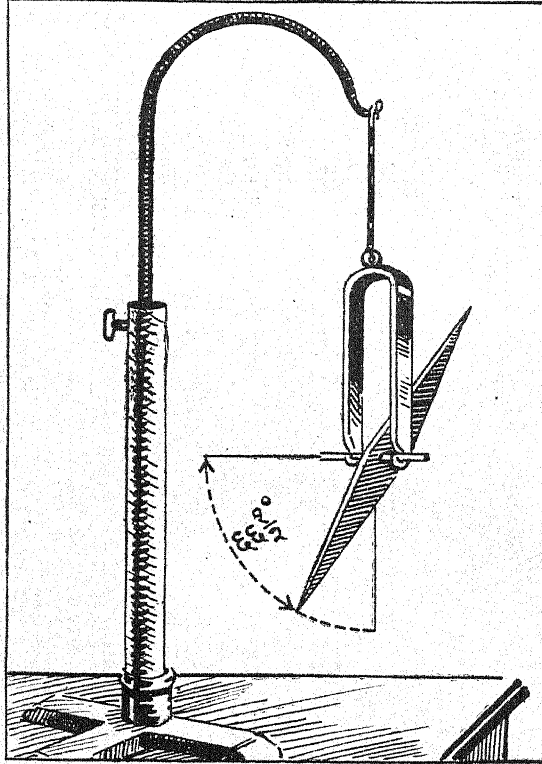
जहाँ तक आधुनिक चुम्बक-विज्ञान का सम्बन्ध है, उपर्युक्त तथ्य को मालूम करने का श्रेय कोलम्बस को प्राप्त है। १४९२ ई० में अपनी अमेरिका-यात्रा के सिलसिले में कोलम्बस ने यह बात निश्चित रूप से देखी कि चुम्बक की सुई ठीक भौगोलिक उत्तर-दक्षिण दिशा का निर्देश नहीं करती। इस तथ्य की जाँच आप स्वयं भी निम्न रीति से कर सकते हैं। किसी स्थान का पहले भौगोलिक उत्तर-दक्षिण धरातल निश्चित कर लीजिए और तब चुम्बकीय सुई को सावधानी के साथ समतुलित लटकाकर सुई के उत्तर-दक्षिण ध्रुवों को मिलानेवाली रेखा से गुज़रनेवाला ऊर्ध्व धरातल निश्चित कीजिए। आप देखेंगे कि चुम्बकीय उत्तर दक्षिण धरातल भौगोलिक उत्तर-दक्षिण धरातल से कुछ हटा हुआ होगा। यह अन्तर पृथ्वी के विभिन्न स्थानों पर विभिन्न होता है। अतः वैज्ञानिकों ने पैमाइश करके संसार के विभिन्न स्थानों के लिए इस अन्तर का मान निकाला है और भूमण्डल के मानचित्र पर रेखाएँ खींचकर प्रत्येक स्थान के कोण का निर्देश कर दिया है। इन्हीं नक़्शों की सहायता से जहाज़ का कप्तान अपने मार्ग की सही दिशा मालूम करता है। इन नक़्शों को देखकर ही वह जान पाता है कि उक्त स्थान पर चुम्बकीय दिशासूचक यंत्र की उत्तर-दक्षिण रेखा भौगोलिक उत्तर-दक्षिण रेखा से पूर्व या पश्चिम की ओर कितने अंश हटी हुई है।



अपनी प्रथम अनुसंधान-यात्रा में कोलंबस ने देखा कि दिशा-सूचक की सुई ठीक भौगोलिक उत्तर-दक्षिण में रहने के बजाय स्थान-परिवर्त्तन के साथ कुछ-कुछ दिशा बदलने लगती है।

स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि चुम्बकीय सुई को स्वतंत्रतापूर्वक लटकाने से वह सदैव उत्तर-दक्षिण दिशा में ही

जाकर क्यों ठहरती है ? प्रारम्भिक दिनों में इस प्रश्न के उत्तर में लोगों ने सोचा कि अवश्य ही आकाश के नक्षत्र धरती के चुम्बकों को किसी प्रकार से प्रभावित करते हैं। मोटे तौर पर चुम्बक ध्रुव नक्षत्र की दिशा की ओर घूम जाता है, अतः लोगों ने धारणा की कि चुम्बक का दिशासूचक गुण अवश्य ही ध्रुव तारे ही के कारण है। किन्तु सन् १५८१ ई० में राबर्ट नार्मन नामक एक अंग्रेज़ विद्वान् ने चुम्बकीय सुई की एक और विशेषता का दिग्दर्शन किया। उसने देखा कि चुम्बकीय सुई के मध्य बिन्दु पर छेद करके यदि उसे इस प्रकार लटकाया जाय कि वह ऊर्ध्व धरातल में स्वतंत्रतापूर्वक घूम सके तो देखा जाता है कि सुई साधारणतया पृथ्वी के धरातल के समानान्तर कभी नहीं रहती। प्रायः उत्तरीय गोलार्द्ध में सुई का उत्तरी ध्रुव वाला सिरा नीचे को झुका रहता है और दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिणी ध्रुव वाला सिरा। विषुवत् रेखा से ज्यों-ज्यों हम उत्तर या दक्षिण की ओर बढ़ते हैं, सुई का झुकाव भी त्यों-त्यों बढ़ता जाता है।



चुंबकीय सुई को बीच से इस प्रकार लटकाने पर हम देखते हैं कि वह धरती के समानान्तर नहीं रहती। उसका कोई एक सिरा विभिन्न स्थानों में विभिन्न कोण बनाते हुए नीचे को झुका रहता है। चित्र में लंदन में सुई का उक्त झुकाव प्रदर्शित है।

चुम्बकीय सुई के इन दोनों गुणों—भौगोलिक उत्तर-दक्षिण दिशा से हटने तथा उसके झुकाव—पर एक अंग्रेज़ विद्वान् गिल्बर्ट ने काफ़ी विवेचना की। गिल्बर्ट महारानी एलिज़ाबेथ के दरबार में शाही चिकित्सक था, अर्थात् यह बात सोलहवीं शताब्दी की है। उसने पृथ्वी का एक मॉडल बनाकर उसके अन्दर एक छोटा-सा छड़ चुम्बक रक्खा। तदनन्तर मॉडल के गोले के धरातल के विभिन्न स्थानों पर चुम्बकीय सुई रखकर उसने दिखलाया कि इस मॉडल में भी चुम्बकीय सुई का उसी प्रकार झुकाव होता है, जिस प्रकार कि पृथ्वी के धरातल पर (दे० पृष्ठ २५८६ का चित्र)। इस प्रकार डा० गिल्बर्ट ने यह प्रमाणित कर दिखाया कि पृथ्वी के धरातल पर चुम्बकीय सुई को जो शक्ति प्रभावित करती है, वह स्वयं पृथ्वी से ही प्राप्त होती है। डा० गिल्बर्ट की यह खोज अत्यन्त महत्वपूर्ण मानी जाती है और इस दृष्टि से हम उसे 'चुम्बकीय विज्ञान का गैलीलियो' कह सकते हैं। इस सिद्धान्त के बल पर पृथ्वी के धरातल पर चुम्बकीय सुई द्वारा प्रदर्शित होनेवाले सभी गुण आसानी से और पूर्ण रूप से समझाए जा सकते हैं।

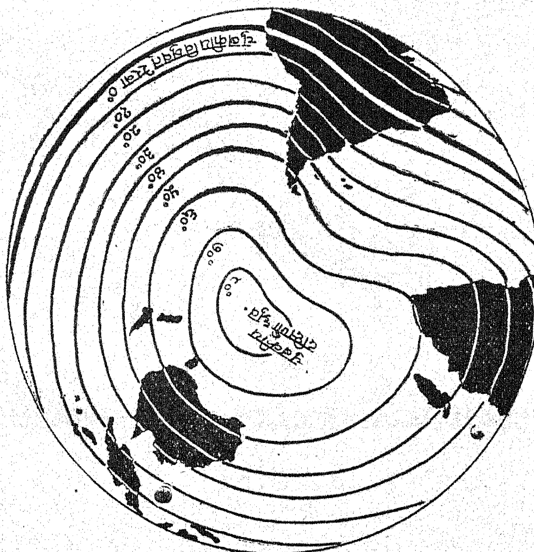
स्वतंत्र अवस्था में चुम्बक की सुई लगभग उत्तर-दक्षिण दिशा में ठहर जाती है। उसके इस गुण के पीछे भी पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति ही है। किन्तु चुम्बक का उत्तरी सिरा उत्तर की ओर घूमकर आ जाता है, अतः पृथ्वी के अन्दर स्थित चुम्बक का उत्तरी ध्रुव वाला सिरा उत्तर की ओर स्थित नहीं हो सकता। क्योंकि यदि ऐसा होता तो धरातल पर लटकाए गए सभी चुम्बकों का दक्षिणी ध्रुव ही उत्तर की ओर फिरता। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पृथ्वी के गर्भ में स्थित काल्पनिक चुम्बक का दक्षिणी ध्रुव उत्तरी गोलार्द्ध में है और उत्तरी ध्रुव दक्षिणी गोलार्द्ध में! साथ ही इस महान् चुम्बक के सिरे धरती के भौगोलिक ध्रुवों से गुज़रनेवाली कीली के समानान्तर भी नहीं हो सकते। क्योंकि धरातल पर जब कोई छड़ चुम्बक लटकाया जाता है तो वह भौगोलिक उत्तर-दक्षिण दिशा के समानान्तर नहीं ठहरता। अतः चुम्बकीय विषुवत् रेखा भी भौगोलिक विषुवत् रेखा पर नहीं पड़ती और न चुम्ब-





वैज्ञानिकों ने पैमाइश करके संसार के विभिन्न स्थानों में भौगोलिक उत्तर-दक्षिण दिशा से चुंबकीय सुई के हटाव का निर्देश करनेवाली रेखाएँ पृथ्वी के मानचित्र पर अंकित कर दी हैं। वही प्रस्तुत नक़्शों में दिग्दर्शित हैं। 'क' वह रेखा है, जिस पर स्थित स्थानों पर चुंबकीय सुई में यह दिशांतर नहीं होता।

कीय ध्रुव ही भौगोलिक ध्रुवों पर पड़ते हैं। पृथ्वी के चुम्बक में एक और विचित्र बात है—इसके ध्रुव भौगोलिक ध्रुवों की भाँति ठीक एक-दूसरे के आमने-सामने भी नहीं पड़ते। चुम्बकीय ध्रुवों की स्थिति का ठीक-ठीक पता पहली बार कैप्टेन रास ने १८३१ ई० में लगाया था। स्पष्ट है कि चुम्बकीय दक्षिणी ध्रुव के ठीक ऊपर आने पर चुम्बकीय सुई एकदम लम्बवत् खड़ी हो जायगी। उस समय उसका उत्तरी ध्रुव नीचे की ओर होगा। इसी प्रकार दक्षिणी गोलार्द्ध में पृथ्वी के चुम्बकीय उत्तरी ध्रुव के ठीक ऊपर पहुँचने पर चुम्बकीय सुई एक बार फिर लम्बवत् खड़ी होगी,





प्रस्तुत मानचित्र में पृथ्वी के दोनों गोलार्द्धों में चुंबकीय सुई के नीचे की ओर के झुकाव की अक्षांश रेखाएँ दिग्दर्शित हैं अर्थात् प्रत्येक रेखा पर चुंबकीय सुई नक़्शे में निर्दिष्ट अंश का कोण बनाते हुए धरातल की ओर झुकेगी।

किन्तु इस बार उसका दक्षिणी ध्रुव नीचे की ओर होगा। उत्तरी गोलार्द्ध में धरती के चुम्बक का दक्षिणी ध्रुव कनाडा में ७० अंश ५ मिनट उत्तरी अक्षांश और ९६ अंश ४३ मिनट पश्चिमी देशान्तर पर स्थित है। यह स्थान भौगोलिक उत्तरी ध्रुव से लगभग १४०० मील की दूरी पर है। दक्षिणी गोलार्द्ध में पृथ्वी के चुम्बक का दक्षिणी ध्रुव अन्टार्कटिक प्रदेश में ७२ अंश २५ मिनट दक्षिणी अक्षांश और १५५ अंश १६ मिनट पूर्वीय देशान्तर पर स्थित है।

पृथ्वी के अन्दर मॉडल चित्र की भाँति कोई छड़ चुम्बक वास्तव में मौजूद नहीं है, क्योंकि पृथ्वी के गर्भ के ऊँचे तापक्रम पर लोहा, पत्थर आदि सब-कुछ पिघलकर द्रव बन जाते हैं। फिर भी पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति ठीक उसीप्रकार की है, जैसी कि धरती के अन्दर यदि कोई विशालकाय छड़ चुम्बक मौजूद होता तो हमें मिलती। धरती की इस चुम्बकीय शक्ति का रहस्य क्या है? आगे चलकर विद्युत् का अध्ययन करनेपर हम देखेंगे कि यदि लोहे की एक कील को लेकर उसके चारों ओर हम रेशम से ढके हुए तार को लपेटें और फिर इस तार में से विद्युत् धारा प्रवाहित कराएँ तो उस कील में चुम्बकीय शक्ति उत्पन्न हो जाती है—उसका एक सिरा उत्तरी ध्रुव बन जाता है और दूसरा सिरा दक्षिणी ध्रुव। धरती के अन्दर भी लोहा प्रचुर मात्रा में मौजूद है। सम्भव है, वायुमण्डल में उत्पन्न हुई विद्युत् धारा के प्रभाव से पृथ्वी में चुम्बकीय शक्ति का समावेश हो गया हो। सूर्य की अल्ट्रा-वायलेट रश्मियाँ निरन्तर वायुमण्डल में वायु के कणों से टकराया करती हैं। ये अल्ट्रा-वायलेट रश्मियाँ वायु-कणों में से ऋणात्मक विद्युत् कणों (इलेक्ट्रानों) को अलग कर देती हैं। अपरिमित संख्या में ये विद्युत् कण जब अपनी हरकत करते हैं तो विद्युत् धारा उत्पन्न होती है, जो अपने प्रभाव से धरती के अन्दर चुम्बकीय शक्ति उत्पन्न कर देती है। किन्तु इस मत की भलीभाँति पुष्टि करने में विज्ञान अभी असमर्थ है।

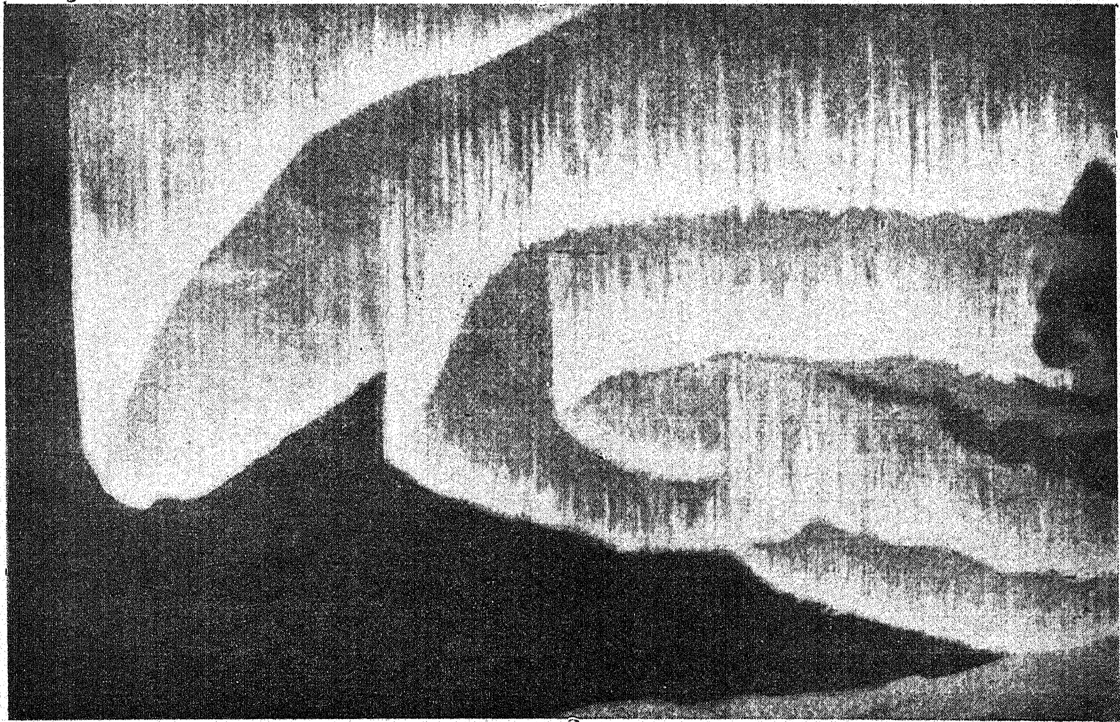
पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति के बारे में किए गए अनुसन्धानों से पता लगता है कि विभिन्न स्थानों पर पृथ्वी की चुम्बकीय उत्तर-दक्षिण दिशा में नियमित रूप से दैनिक परिवर्त्तन हुआ करता है। आठ बजे प्रातः तक उत्तरी गोलार्द्ध में चुम्बकीय उत्तर-दक्षिणी ऊर्ध्व धरातल धीरे-धीरे पूर्व की ओर हटता है। तदुपरान्त यह तीसरे पहर के दो बजे तक पश्चिम की ओर हटता है, फिर यह पूर्व की ओर हटने लगता है। ग्रीष्म ऋतु में जाड़े की अपेक्षा हटाव अधिक होता है। दक्षिणी गोलार्द्ध में यह चुम्बकीय उत्तर-दक्षिणी ऊर्ध्व धरातल उल्टी दिशा में हटता है। दैनिक परिवर्त्तन के अतिरिक्त चन्द्रमा के प्रभाव के कारण नियमित रूप से धरती की चुम्बकीय दिशा में पाक्षिक परिवर्त्तन भी होता है। कुछ विशेषज्ञों की धारणा है कि सौर परिवार के अन्य ग्रहों का भी पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति पर प्रभाव पड़ता है।

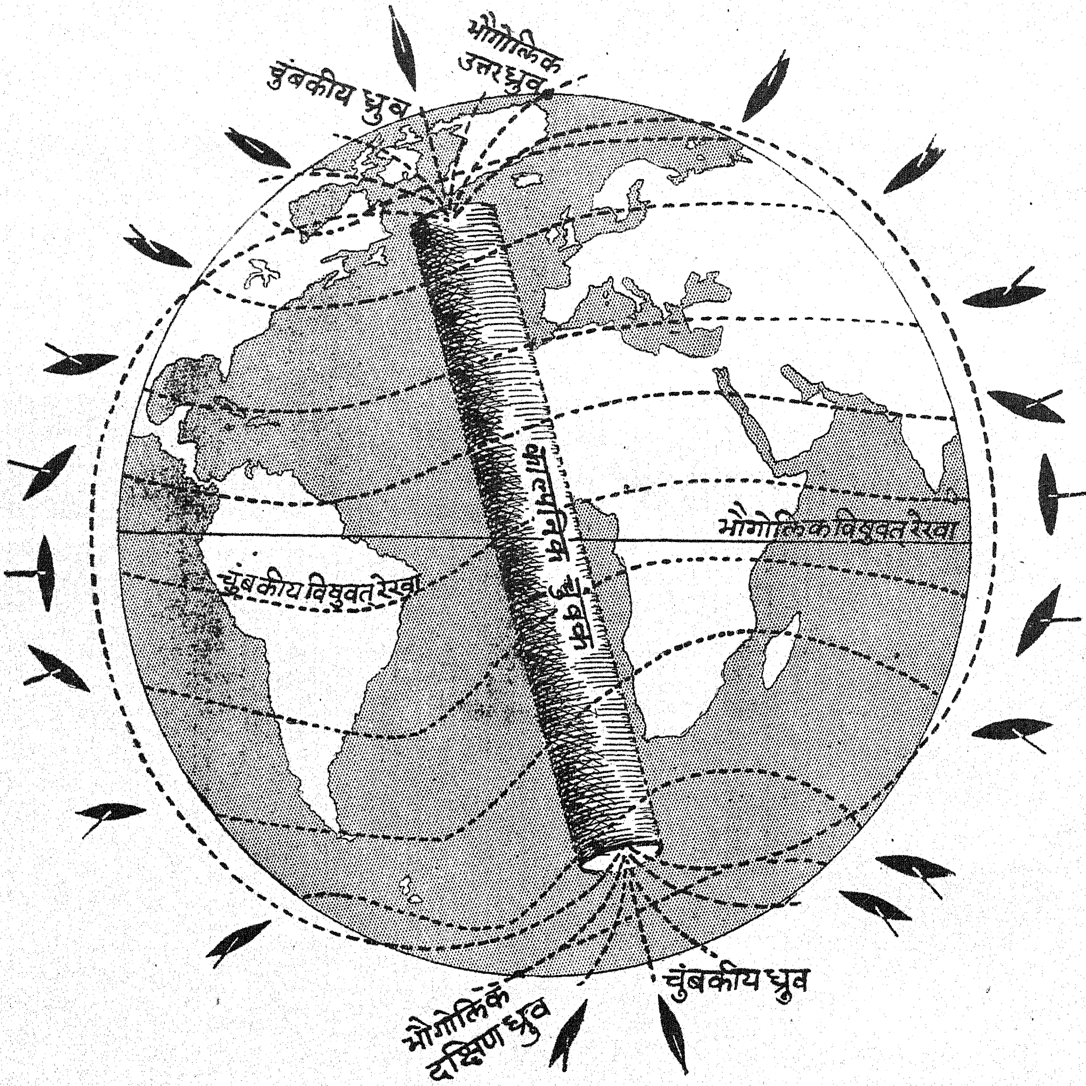
धरती की चुम्बकीय दिशा में एक लम्बी अवधि का भी परिवर्त्तन होता है। ऐसा जान पड़ता है मानों पृथ्वी के अन्दर के महान् काल्पनिक चुम्बक के ध्रुव भौगोलिक ध्रुवों की परिक्रमा लगाते हैं। अवश्य ही इस परिक्रमा की गति अत्यन्त धीमी है। उदाहरण के लिए १५८० ई० में लन्दन में पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा भौगोलिक उत्तर-दक्षिण दिशा से ११ अंश १५ मिनट पूर्व की ओर थी। धीरे-धीरे यह अन्तर कम होता गया और १६५७ ई० में पृथ्वी का चुम्बकीय उत्तर-दक्षिण धरातल भौगोलिक उत्तर-दक्षिण धरातल की ठीक सीध में आ गया। फिर यह पश्चिम की ओर हटने लगा, यहाँ तक कि १८०० ई० तक यह २४ अंश १६ मिनट पश्चिम की ओर पहुँच गया। १९३६ ई० में यह १३ अंश पश्चिम में था और इस गति से सन् २००० ई० में यह पुनः भौगोलिक उत्तर-दक्षिण की सीध में आ जायगा। इस परिवर्त्तन से पता चलता है कि पृथ्वी की चुम्बकीय धुरी लगभग १००० वर्ष में भौगोलिक धुरी की पूरी परिक्रमा लगा लेती है।

धरती की चुम्बकीय शक्ति के इन नियमित परिवर्त्तनों के अतिरिक्त अनेक ढंग के और भी परिवर्त्तन हुआ करते हैं, जो किसी निश्चित अवधि पर नहीं होते। कुछ परिवर्त्तन तो एकाध क्षण के लिए ही होते हैं और कुछ अधिक काल के लिए। इनमें से विशेष उल्लेखनीय "चुम्बकीय तूफ़ान" हैं। इस तरह के तूफ़ान जब आते हैं तो पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति उद्वेलित हो उठती है—तार के यंत्र उस समय बेकार पड़ जाते है तथा रेडियो के यंत्रों में बहुत ही अधिक खड़खड़ाहट होने लग जाती है। चुम्बकीय दिशासूचक यंत्र भी उतनी देर के लिए झूठे पड़ जाते हैं। इस चुम्बकीय तूफ़ान का घनिष्ठ सम्बन्ध सूर्य से है, क्योंकि चुम्बकीय तूफ़ान प्रति ११ वर्ष की अवधि पर उत्पन्न होते हैं, ठीक जबकि सूर्य के कलंकों या धब्बों की संख्या अधिकतम होती है। चुम्बकीय तूफ़ान के समय ही उत्तरीय ध्रुव प्रान्त में 'उत्तरीय प्रकाश' या 'अरोरा बोरियालिस' तथा दक्षिणी ध्रुव प्रदेश में 'दक्षिणी

सूर्य से आनेवाले विद्युत् कणों की बौछार द्वारा वायुमण्डल के ऊपरी स्तरों में चुंबकीय क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप यदा-कदा दिखाई पड़नेवाली 'अरोरा' के दो भव्य दृश्य। यह रंगीन प्रकाश कई विचित्र आकार-प्रकार का होता है और केवल ध्रुव-प्रदेशों ही में दिखाई पड़ता है। क्षण-क्षण पर उसकी झिलमिल आकृति बदलती रहती है और कभी-कभी ऐसा दिखाई देने लगता है, मानों आसमान से रंगों का एक चुन्नटदार परदा लटक कर लहरा रहा हो! दोनों चित्रों का अंतर देखिए!







सोलहवीं सदी में डॉ० गिल्बर्ट ने पृथ्वी के गोले का इसी प्रकार का एक मॉडल बनाकर तथा उसमें एक छड़ चुंबक रखकर पृथ्वी के धरातल पर भिन्न-भिन्न स्थानों में चुंबकीय सुई के दिशान्तर का तथ्य सिद्ध किया था।

प्रकाश' या 'अरोरा आस्ट्रेलिस' की रंगविरंगी चमक भी प्रचुरता से देखने में आती है। अतः स्पष्ट है कि सूर्यकलंकों, पृथ्वी के चुम्बकीय तूफ़ान तथा उत्तरी और दक्षिणी प्रकाश का प्रदर्शन तीनों ही एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। सूर्य-कलंक वास्तव में सूर्य के धरातल के आवर्त्त हैं, जो उद्वेलित अवस्था में होते हैं। सूर्य के इन गड्ढों में से अगणित संख्या में ऋणात्मक विद्युत् कण निकलकर पृथ्वी की ओर आते हैं। पृथ्वी के वायुमण्डल के बाह्य स्तर में प्रवेश करने पर ये वायुकणों से टकराकर उन कणों में से विद्युत् कण अलग कर देते हैं। इस क्रिया के फलस्वरूप वायुमण्डल के उर्ध्व स्तरों में एक प्रकार की विद्युत् धारा प्रवाहित होने लगती है। इसी विद्युत् धारा के चुम्बकीय प्रभाव से पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र में विशेष परिवर्त्तन उत्पन्न होते हैं। ध्रुवों की ओर सूर्य से निकले हुए विद्युत् कण अधिकतम संख्या में आकर्षित होते हैं। वहाँ वायुकणों से टकराकर रंग-विरंगे प्रकाश उत्पन्न करते हुए वे 'अरोरा' के दृश्य उपस्थित करते हैं। इसी विद्युत् धारा के संस्पर्श में आकर रेडियो की तरंगें भी क्षुब्ध हो हमारे रेडियो-यंत्रों में व्यर्थ की कड़कड़ आवाज़ पैदा करती हैं।



पृथ्वी की कहानी



दक्षिणी अमेरिका का दैत्याकार अजगर—एनाकोण्डा

इसकी एक जाति लंका में भी पाई जाती है। यह तीस-चालीस फ़ीट तक लंबा होता है और अर्धजलचर होने के कारण पानी में भी उतरकर शिकार करता है। कभी-कभी वह आक्रमण करके नाविकों सहित मामूली नौकाओं तक को उलट देता है, जैसा कि प्रस्तुत चित्र में दिग्दर्शित है। प्रायः यह जलाशयों के पास पेड़ों पर लटके हुए पड़ा रहता है और रात को पानी पीने के लिए आनेवाले प्राणियों को हड़प लेता है।



भारतवर्ष तथा अन्य देशों के वर्त्तमान और प्राचीन उरंगम

२—विषैले और विषहीन सर्प

पिछले लेख में हम उरंगमों के दो समूहों—कच्छप और मगर—का वर्णन कर चुके हैं। अब हम प्रस्तुत और आगे के लेख में इस वर्ग के शेष दो प्राणियों—सर्प और छिपकली—के विषय में आपको जानने योग्य कुछ साधारण बातें बताएँगे। आशा है, इस लेख द्वारा आप भयानक विषैले और विषहीन उपयोगी सर्पों के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त करके लाभ उठा सकेंगे।

सर्प से भय

'सर्प' शब्द सुनते ही हमारे हृदय में एक विशेष प्रकार का भय समा जाता है। उसकी कल्पना करते ही हमारी आँखों के सम्मुख पृथ्वी पर रेंगनेवाले एक पतले, लम्बे, चिकने और भयानक प्राणघातक जीव का चित्र खिंच जाता है। यदि कहीं आते-जाते हुए सचमुच में सर्प हमारे सामने आ पड़ता है तो हमें सबसे पहला विचार उससे बचकर भागने का ही होता है। उसे देखते ही हमें अपने प्राणों की शंका होने लगती है और हो भी क्यों न? जिसने एक बार भी साँप के काटे हुए किसी मनुष्य को मरते देखा है, वह उसे कभी भूल नहीं सकता! उसकी दुर्दशा देखकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। हट्टा-कट्टा मनुष्य भी विषैले सर्प के काटते ही घबड़ा उठता है। पलभर में उसके शरीर का बल न जाने कहाँ चला जाता है और वह किसी प्रकार भी अपने आपको सँभाल नहीं पाता! वह भूमि पर शिथिल होकर गिर पड़ता है। जैसा कि डा० रामशरणदास ने अपने 'सर्प-संसार' में लिखा है—"उसकी आँखें लाल हो जाती हैं, दृष्टि मन्द पड़ जाती है, माथे पर पसीने की बूँदें झलकने लगती हैं और वह प्यास से व्याकुल हो जाता है। पानी उसके गले से नीचे नहीं धँसता। रोगी मूर्छित हो जाता है, उसका सारा शरीर पसीने में लथपथ होकर ठंडा हो जाता है और साँस जल्दी-जल्दी चलने लगती है। कभी-कभी शरीर फूल जाता है और प्रायः जीभ भी फूलकर मुँह से बाहर निकल पड़ती है। शरीर का रंग बिलकुल बदल जाता है (नीला-सा पड़ जाता है) और मुँह से राल टपकने लगती है। कुछ समय बाद ऐंठन आरम्भ होती है, साँस भी रुकने लगती है तथा अंत में मनुष्य मर जाता है।" श्वासोच्छ्वास सर्वथा बन्द होने से पूर्व साँप द्वारा काटे गए मनुष्य के शरीर में प्रायः ज़ोर के आक्षेप आते हैं, परन्तु हृदय एक या दो मिनट अधिक देर तक धड़कता रहता है।

बहुतेरे विषैले सर्पों द्वारा काटे गए व्यक्ति की रक्षा का कोई अचूक उपाय अभी तक नहीं मालूम हुआ है और यदि कोई उपाय हो भी तो बहुधा दशा इतनी जल्द ख़राब हो जाती है कि चिकित्सा का अवसर भी नहीं मिल पाता। "नौ फ़ीट सात इंच लम्बे एक नाग से काटा गया आदमी पन्द्रह मिनट में मर गया था और एक कुली स्त्री बीस मिनट में समाप्त हो गई थी।" आदमी तो क्या, असली काले शेषनाग के काटने से हाथी जैसे विशाल जीव भी शीघ्र ही यमलोक को सिधार जाते हैं! सर्प द्वारा काटे जाने के तीन घंटे के अन्दर ही अन्दर हाथी मरता देखा गया है। यह ज़रूर है कि हाथी के शरीर की मोटी खाल पर साँप के दाँत नहीं गड़ते, लेकिन उसकी सूँड़ के छोर या नाख़ूनों के सिरे पर, जहाँ खाल नर्म होती है, डसने से तुरंत विष का प्रभाव पड़ता है।

एक और कठिनाई यह है कि यह घातक जीव अचानक आक्रमण कर बैठता है। कोई नहीं कह सकता कि किस समय यह निकल आएगा और मनुष्य को काट लेगा। दिन में, रात्रि के अंधकार में, घर में, खेत में अथवा सुन-

सान जंगल में चलते-फिरते या बेखबर सोते हुए मनुष्य सर्प से डसे गए हैं। धरती, दीवार, वृक्ष, छप्पर आदि से निकलकर एकाएक ये भयंकर शत्रु आदमी पर हमला कर बैठते हैं। बहुधा मनुष्य को यह भी पता नहीं चलता कि किस जाति का सर्प उसे काट गया है और कभी-कभी तो विषहीन सर्प के काटने से भी घबड़ाकर रोगी की हृदय की गति बन्द हो जाती है। संसार में प्रति वर्ष एक लाख से भी अधिक मनुष्य इस भयंकर जीव के काटने से अपने प्राण खो बैठते हैं। अकेले भारतवर्ष में नाग (कोबरा) और करैत जातियों के सर्प बीस हज़ार प्राणियों को प्रति वर्ष मौत के घाट उतार देते हैं! सब जाति के सर्पों द्वारा मरनेवालों की संख्या हमारे देश में लगभग एक सौ प्रति दिन है।

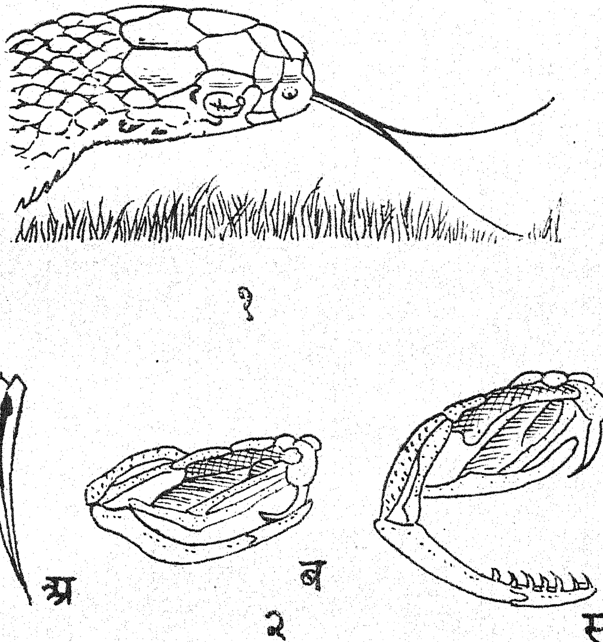
परन्तु यह सब होने पर भी हमें सर्प से इतना अधिक भयभीत न होना चाहिए, क्योंकि प्रायः जो सर्प हमें दृष्टि-गोचर होते हैं वे अधिकतर विषैले नहीं होते। संसार में प्रायः एक हज़ार सात सौ जातियों के सर्प पाए जाते हैं, जिनमें से केवल लगभग तीन सौ जातियाँ ही अधिक विषैली हैं। तीन सौ जातियाँ ऐसी हैं कि जिनकी लार में थोड़ा-सा विष मिला रहता है—ये साधारणतया मनुष्य के लिए हानिकारक नहीं होतीं और इनमें विषैले दाँत भी नहीं पाए जाते। यह विषहीन और विषैले सर्पों के बीच की श्रेणी है। शेष सब सर्प विषहीन होते हैं। यह भी न भूलना चाहिए कि विषमय सर्पों के काटने पर भी मर जाना आवश्यक नहीं है। बहुधा ऐसा भी होता है कि जब वे काटते हैं तब शरीर में उतना विष नहीं डाल पाते कि जिससे काटे गए प्राणी की मृत्यु हो जाय। कुछ सर्पों के पास तो इतना विष कभी होता ही नहीं और जिनके पास होता भी है तथा जो उसे डाल भी सकते हैं, उन्हें काटते समय या तो पूरा विष उतारने का अथवा उचित प्रकार से दाँत गड़ाने या फन मारने का अवसर ही नहीं मिलता। यही कारण है कि साँप से काटे गए मनुष्य बच जाते हैं। ऐसे ही लोगों को बचते देख-कर जंत्र-मंत्र अथवा जड़ी-बूटी तथा अन्य औषधियों के गुणों में हमें विश्वास हो जाता है। वस्तुतः काटने-वाले सभी साँप विषधर नहीं होते और विषहीन सर्प द्वारा काटे गए लोग अवश्य ही बच जाते हैं—उनके लिए एक चुटकी राख, सँपेरों की औषधि, अथवा मंत्र सभी एक-से उपयोगी हैं। हाँ, डर से अथवा घाव के पक जाने से यदि मृत्यु हो जाय तो यह बात दूसरी है।

शरीर-रचना

सर्प का शरीर लम्बा और बल खाने वाला होता है तथा उसकी खाल के ऊपर चीमड़ छिलके रहते हैं। न उसके सीने की हड्डी होती है और न अगली टाँगें। अधि-कांश में पिछली टाँगें भी नहीं पाई जातीं; लेकिन अजगर जैसे कुछ साँपों में पिछली टाँगों के मूल पाये जाते हैं। सर्प का शरीर तीन भागों में बाँटा जा सकता है—सिर, धड़ और पूँछ। सिर के सिरे पर खुलनेवाला मुँह, दो आँखें और दो नथुने होते हैं। सिर के पीछे दूर तक धड़ रहता है और उसके पीछे का थोड़ा-सा भाग पूँछ कहलाता है। जहाँ धड़ और पूँछ मिलते हैं, वहाँ नीचे की ओर एक छिद्र होता है, जिसे मलद्वार कहा जाता है। इस द्वार से मल के अतिरिक्त मूत्र तथा अंडे भी निकलते हैं। धड़ और पूँछ देखने में एक समान लगते हैं, परन्तु सुविधा के लिए मलद्वार से आगे के भाग को धड़ और पीछे के भाग को पूँछ कहते हैं। सर्प के गर्दन नहीं होती। सर्प की आँखों में हमारे आपके जैसे पलक भी नहीं होते। उनमें दोनों पलक मिलकर एक पारदर्शक झिल्ली बन जाते हैं। यह झिल्ली आँखों के ऊपर मढ़ी रहती है। यही कारण है कि उसकी आँखें सदा खुली और घूरती हुई-सी दिखाई देती हैं। सर्प का सिर और मुँह दोनों ही देखने में छोटे होते हैं। परन्तु वह अपने से कई गुनी मोटी वस्तु निगल लेता है। यह कैसे? उसके ऊपरी जबड़े की हड्डियाँ कई भागों में बँटी रहती हैं। ये हड्डियाँ और दोनों जबड़े एक दूसरे से ऐसी लचीली मांश-पेशियों और तंतुओं से जुड़े होते हैं, जो रबड़ की तरह खिंच जाते हैं। आवश्य-कतानुसार जबड़े खूब फैल जाते हैं। इस प्रकार अधिक मोटा शिकार भी सुगमता से उसके मुख में प्रवेश कर जाता है। सर्प की जिह्वा बड़ी विचित्र होती है। वह लम्बी, पतली, नर्म और आगे को चिमटे के समान फटी होती है, अतः देखने में वह दोहरी जान पड़ती है। मुँह बन्द रहने पर भी वह एक छेद द्वारा ओठों के बीच से बाहर निकलकर इधर-उधर लपलपाया करती है। साँप अपनी जिह्वा द्वारा यह पता लगा लेता है कि उसके सम्मुख का शिकार या अंडा कितना मोटा है और वह उसे निगल सकेगा या नहीं। उसकी जिह्वा में स्वाद का अनुभव करने की शक्ति नहीं होती और न उसको इसकी आवश्यकता ही जान पड़ती है। जब वह अपने शिकार को बिना काटे ही पूरा निगल लेता है तो फिर उसके स्वाद से उसे क्या सरोकार? जीभ का मुख्य कर्त्तव्य उसे अपने सम्मुख की वस्तु तथा मार्ग बताने का है। यही कारण है कि जब साँप चलते-फिरते हैं तो अपनी जीभ को बाहर निकाले रहते हैं। वह

उनकी स्पर्शेन्द्रिय है। सर्प की जिह्वा में एक और विशेषता होती है, जो किसी अन्य प्राणी में नहीं पाई जाती। वह यह कि जब वह मुँह के भीतर बन्द रहती है और उस समय यदि मुँह खोलकर देखा जाय तो उसका कहीं पता नहीं मिलता! इसका कारण यह है कि सर्प के मुँह के भीतर एक झिल्ली की थैली होती है, जिसमें सिकुड़कर जीभ बन्द हो जाती है। सम्भव है, यह झिल्ली इसीलिए बनाई गई हो कि कड़े भोजन को समूचा निगलते समय जीभ जैसे कोमल और आवश्यक अंग को कोई हानि न पहुँचे।

अन्य उरंगमों की भाँति सर्प के दाँत भी केवल पकड़ने के लिए होते हैं; भोजन चबाने या कतरने के योग्य वे नहीं होते। वे नुकीले और भीतर की ओर मुड़े रहते हैं। एक बार शिकार उनमें फँस जाने पर सहज में छूटकर मुँह के बाहर नहीं आ सकता। जबड़ों की प्रत्येक गति से मुँह का ग्रास भीतर की ही ओर सरकता है। यही कारण है कि जल्दी में पकड़ी गई अप्रिय वस्तु को भी साँप को निगलना ही पड़ता है। ऐसी अवस्था में कभी-कभी गला घुट जाने से उसकी मृत्यु भी हो जाती है।



१. घास में मिलनेवाले साधारण विषहीन साँप का सिर—चिमटे के समान फटी हुई जिह्वा पर ध्यान दीजिए; २. अ. साँप का विषदंत—बीच की नली से ही विष उतरता है; २. ब. जबड़े की हड्डियाँ और विषदंत मुँह बंद होने की दशा में; २. स. वही, मुँह खुला रहने की दशा में।

लाक्षणिक, विषहीन और निर्दोष सर्पों के दोनों जबड़ों और तालू में क्रमशः नुकीले और ठोस दाँत होते हैं। लेकिन दबोइया (Viper), झनझनिया (Rattlesnake) आदि जैसे विषमय सर्पों के ऊपरी जबड़े में दो विषैले दाँतों के सिवाय और दाँत नहीं होते। ये लम्बे दाँत विष की ग्रंथि (थैली) के नीचे एक चलनशील हड्डी में जुड़े रहते हैं और हर दाँत के भीतर विष प्रवेश करने के लिए एक नली बनी रहती है।

दक्षिणी अफ़्रीका में अंडे खानेवाले सर्पों की एक जाति में दाँतों का एक विचित्र स्वरूप मिलता है। ये सर्प तीन फ़ीट से अधिक लम्बे होते और उनका सिर मनुष्य की अँगुली के बराबर मोटा होता है। किन्तु ऐसी अवस्था में भी वे छोटी मुर्गी के अंडे तक को सहज में निगल लेते हैं। उनके असली दाँत बहुत छोटे होते हैं, लेकिन इसके बदले उनकी गर्दन की रीढ़ के हर मोहरे में दाँत जैसी हड्डी बढ़ी हुई होती है, जो गले में भीतर की ओर उभरी हुई रहती है। जब अंडा सर्प के गले में पहुँचता है तो मांस-पेशियों के सिकुड़ते ही उसके ये विचित्र भीतरी दाँत दबोचकर उसे कुचल देते हैं। इस प्रकार अंडे की सामग्री पेट में पहुँच जाती है और छिलका कुछ समय पश्चात् बाहर उगल दिया जाता है! अंडा तोड़ने की ऐसी अद्भुत रचना और किसी भी प्राणी में नहीं पाई गई है।

साँप के कान भीतर होते हैं, बाहर नहीं। उसके हृदय में चार कोठरियों की अपेक्षा तीन ही कोठरियाँ होती हैं और फेफड़ा भी दो के बजाय एक ही होता है। उसकी दोनों लार-ग्रंथियाँ काफ़ी बड़ी होती हैं। कई साँप एक निश्चित अवधि पूरी होने पर अपने ऊपर की खाल को ज्यों-की-त्यों उतार फेंकते हैं। इसे साँप का केंचुली निकालना या उतारना कहते हैं।

सर्प केवल शिकार की खाल और मांस को ही नहीं, बल्कि चिड़ियों के पर, अंडों के छिलके तथा शिकार की हड्डियाँ व सींग जैसे पदार्थों के कठोर भागों को भी गलाकर पचा लेता है। ऐसी कठोर वस्तुओं को पचाने में उसे बहुत समय भी नहीं लगता। अजगर बड़े-से-बड़े शिकार—बकरी अथवा घड़ियाल—को भी सात-आठ दिन में पचा लेता है। अन्य उरंगमों की भाँति सर्प भी शरीर में काफ़ी चर्बी रहने के कारण बहुत दिनों तक भूखे रह सकते हैं। साँप की सभी जातियों में नर और मादा दोनों

प्रकार के प्राणी होते हैं। अधिकतर सर्प अंडज होते हैं, परन्तु कुछ ऐसी भी जातियाँ पाई जाती हैं, जिनमें मादाएँ बच्चे देती हैं।

साँप बिना हाथ-पैर के कैसे चलता है ?

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि जब सर्प के शरीर में चलने-फिरने के लिए हाथ-पैर-जैसे कोई भी अंग नहीं होते तो वह शान्तिपूर्वक, सरलता से, घास पर तेज़ी से किस प्रकार सरकता चला जाता है ? इसका कारण केवल उसकी हड्डियों और पसलियों की अनोखी रचना है। साँप के शरीर की हड्डियाँ एक दूसरे से गेंद-गड्ढे वाले जोड़ों की रीति से जुड़ी रहती हैं। हमारे शरीर में भुजाएँ और टाँगें ऐसे ही जोड़ों द्वारा धड़ से जुड़ी हुई हैं। जिस तरह हम बिना किसी कठिनाई के अपनी भुजाओं को ऊपर, नीचे, आगे, पीछे, अगल-बगल घुमा-फिरा लेते हैं, उसी प्रकार सर्प भी अपने लम्बे शरीर को इन जोड़ों के द्वारा जहाँ से चाहे शीघ्र ही तोड़-मरोड़ सकता है। उसकी पसलियाँ, जो गिनती में २०० से ३०० जोड़ अथवा उससे भी अधिक होती हैं, चलने में उसे विशेष सहायता पहुँचाती हैं। इन पसलियों के नीचे के छोर पेट की ऊपरी खाल पर उगे हुए कड़े छिलकों से जुड़े रहते हैं और ये ही पैर का काम देते हैं। जब साँप चलते हैं तो एक भाग के छिलके से भूमि को दृढ़ता से पकड़ लेते हैं और तब उनके आगे का शरीर और पसलियाँ आगे को तनती या बढ़ती हैं। पसलियों के साथ-साथ उनसे जुड़े हुए छिलके भी सरकते हैं। इस प्रकार शरीर आगे को बढ़ता है। फिर अगले छिलके भूमि को पकड़ते हैं और पिछले छोड़ देते हैं, जिससे पसलियों के आगे बढ़ते ही शरीर का पिछला भाग आगे को घसिट आता है। इसी क्रिया को जल्दी-जल्दी करने से बिना हाथ-पैरवाला यह जीव अपने शरीर को इधर-उधर बल देते हुए बड़ी तेज़ी से सरकाता या घसीटता हुआ चला जाता है। चिकने स्थान पर साँप की गति अवश्य बहुत मन्द पड़ जाती है, क्योंकि उसके शरीर के छिलके घासदार या खुरदरी भूमि को जितनी सुगमता से पकड़ लेते हैं, उतनी सरलता से चिकनी भूमि को नहीं पकड़ पाते।

स्वभाव

सर्पों के स्वभाव में ध्यान देने योग्य सबसे मुख्य बात यह है कि वे सुस्त और कायर जीव होते हैं। मनुष्य का खटका पाते ही अथवा उसे देखते ही वे भागकर छिपने की चेष्टा करते हैं। जब उन्हें भागने का मार्ग या छिपने का स्थान नहीं मिलता अथवा कोई उन्हें छेड़ता है तभी वे मनुष्य पर वार करते हैं। बहुधा अनजान में उन पर पैर पड़ जाने पर या भूमि पर सोये हुए मनुष्यों के नीचे दब जाने पर भी उन्होंने दंतक्षत किया है। कई यात्रियों ने लिखा है कि जिस समय विषधर सर्प जंगल में धूप सेते रहते हैं उस समय यदि कोई सवार या पैदल मनुष्य उस स्थान पर आ निकलता है तो उन्हें वहाँ से हटना अच्छा नहीं लगता। तब अश्वारोही या घोड़े को अपनी समीपता बताने के लिए सर्प अपना मुँह ऊपर उठाकर अपनी काली जिह्वा को जल्दी-जल्दी लपलपाने लगते हैं। सर्पों का रंग जंगल से मिलता-जुलता होने के कारण वे स्पष्ट दिखाई नहीं देते, किन्तु उनकी हिलती हुई जीभ जब सामने पड़ जाती है तब आगन्तुक घोड़ा अथवा मनुष्य उसे देखते ही भय से उछलकर अलग हट जाता और सर्प वहीं पर चैन की बंसी बजाता रहता है।

उत्तरी कटिबन्ध के शीत-प्रदेश को छोड़कर संसार के सभी देशों में सर्प पाये जाते हैं। इनकी अधिकांश जातियाँ स्थलवासी हैं, परन्तु दलदल, नदियों और समुद्र में भी बहुत-सी जातियाँ निवास करती हैं। कुछ जातियाँ वृक्षों पर ही रहती हैं। स्थलवासी जातियाँ पानी में भी तैर सकती हैं, किन्तु कई पनियर सर्प जल से बाहर आते ही प्राण त्याग देते हैं। १६,००० फ़ीट ऊँचे पर्वतों पर भी सर्प पाये गए हैं। सर्प प्रायः स्वयं बिल नहीं बनाते, वरन् चूहों और चींटी आदि के बिलों, वृक्षों के कोटरों तथा पुराने मकानों के खँडहरों पर ही अपना अधिकार जमाकर रहते हैं।

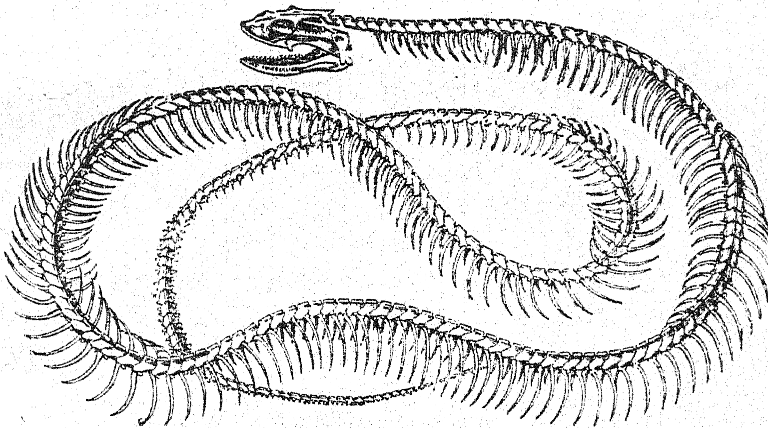
ग्रीष्म-ऋतु में सर्प संध्या-समय भोजन की खोज में इधर-उधर भटकते रहते हैं। कभी-कभी चूहे, छछूँदर, मुर्ग़ी के बच्चे अथवा अंडों की खोज करते हुए वे बस्तियों और घरों में भी प्रवेश कर जाते हैं। प्रकृति ने उन्हें एक ऐसी अद्भुत शक्ति (शरीर को बढ़ाने और सिकोड़ने की) दी है, जिसके द्वारा देखते-ही-देखते वे छोटे बिल या दरार में घुस जाते हैं और जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं अपने शरीर को फैलाकर अपने से कई गुना मोटा शिकार हड़प कर जाते हैं।

यदि कोई चूहा या मेंढक सर्प से पीछा छुड़ाने के लिए किसी सोए हुए मनुष्य के बिस्तर में घुस जाता है, तो सर्प भी वहाँ जाकर उसे पकड़ने की चेष्टा करते हैं और ऐसी दशा में अधिकतर उस मनुष्य को काट लेते हैं।

शरद् ऋतु में सर्प अपने निवासस्थानों से बहुत कम बाहर निकलते हैं। जिन देशों में शीत की अधिकता रहती है, वहाँ वे निन्द्राहार सर्दी की मौसम भर पड़े रहते हैं। शीत

का प्रभाव कम होने पर कभी-कभी बाहर निकलकर खाने योग्य जो भी छोटे जीव पाते हैं उन्हें हड़प कर जाते हैं। अंडे और चिड़ियों के बच्चों को वे बड़े स्वाद से खाते हैं। जैसा कि डा० रामशरणदासजी ने लिखा है, पक्षियों के अंडे खाने के लिए सर्प पेड़ों पर भी चढ़ते हैं। यदि उनको पता चल जाय कि पेड़ की दरार में पक्षी के घोंसले हैं तो वे उसमें अपना सिर घुसेड़ देते हैं। इस प्रकार एक सर्प एक बार एक छेद में सिर डालकर मरा हुआ लटकते देखा गया था। संभव है कि पक्षी के बच्चों को खाने के पश्चात् उसका गला इतना फूल गया हो कि वह उस छेद द्वारा बाहर न निकल सका हो, और लटकते ही लटकते उसके प्राण निकल गए हों।

कुछ सर्पिणी नरम परन्तु चीमड़ खोलवाले अँडे देती हैं। अधिकांश वे गर्मियों के ही दिनों में अंडे देती हैं और उन्हें ऐसे सूखे स्थान पर गड्ढा बनाकर रखती हैं, जहाँ धूप से वे स्वयं ही सेवित हो सकें। अजगर अपने अंडों को बेख़बर नहीं छोड़ता। जब तक कि उनमें से बच्चे नहीं निकलते, मादा अंडों के ढेर को चारों ओर से घेरकर पड़ी रहती है और उसी की गर्मी से वे सेवित होते हैं। अजगर सर्पिणी एक बार में लगभग चालीस अंडे देती है। परन्तु कोई-कोई सर्पिणी एक बार में सौ अंडे तक दे देती है। करैत आठ-दस ही अंडे देते हैं। कभी-कभी ऐसा भी देखने में आया है कि सर्प स्वयं अपने अंडों को खा जाते हैं। सर्प के बच्चों अथवा पोओं के अंडे में से बाहर निकलने के पहले ही उनके एक या अधिक दाँत निकल आते हैं, जिनसे अंडे की खोल को काटकर वे बाहर निकल आते हैं। सर्प की कुछ जातियों में से पोए प्रस्फुटित अवस्था तक माता के पेट ही में रहते हैं और अलग-अलग झिल्ली में लिपटे हुए उत्पन्न होते हैं। जन्मते ही झिल्ली फाड़कर वे बाहर निकल आते हैं और चारों तरफ़ फैलकर आहार की खोज में तल्लीन हो जाते हैं। विषैले सर्प के बच्चों में जन्म से ही विष होता है, इसलिए बच्चे समझकर उनसे बेपरवाह रहना भूल है।



साँप की हड्डियों और पसलियों का अद्भुत ढाँचा

साँप की हड्डियाँ और पसलियाँ हीं उसे तेज़ी से शरीर को बल देते हुए रेंगकर आगे को सरकने में मदद देती हैं।

सर्प बोल भी सकते हैं, परन्तु अपने-अपने अनोखे ढंग से। उनकी फुफकार से तो सभी परिचित हैं। अफ़्रीका का 'पफ़ ऐडर' नामक साँप फेफड़ों में खूब हवा भरकर नथुनों से ऐसी तीव्रता से निकालता है कि सनसनाती हुई उसकी फुफकार बड़ी दूर तक सुनाई पड़ती है। उत्तरी अमेरिका का 'बुलस्नेक' अर्थात् साँड सर्प ऐसी तेज़ आवाज़ से बोलता है कि वह ३० या ३५ गज़ की दूरी से सुनी जा सकती है। भारतीय धामन सर्प भी विचित्र शब्द निकालते हैं। कुछ सर्प बगल के छिलकों को एक दूसरे से अथवा भूमि से रगड़कर आवाज़ उत्पन्न कर सकते हैं। सबसे विचित्र आवाज़ उत्पन्न करनेवाले छिलके भारतवर्ष के 'झनझनिया सर्प' की दुम पर होते हैं। इसका चित्र पृ० २६०१ पर देखिए।

सर्प बड़े कठोर जीव हैं। इनका धड़ सिर से अलग हो जाने पर भी बड़ी देर तक पृथ्वी पर रेंगता रहता है। सिरवाला भाग भी काफ़ी समय तक जीवित रहता है। मुँह भी खुलता और बन्द होता रहता है, साथ ही जीभ भी बाहर-भीतर निकलती रहती है!

नाना प्रकार के सर्प

साँप छोटे-बड़े अनेक मेल के होते हैं। कोई तो दो-तीन इंच ही लम्बे होते हैं और कोई तीस-चालीस फ़ीट तक लम्बे और तीन मन तक भारी! यहाँ पर हम उनमें से कुछ के विषय में आपको थोड़ी-सी मनोरञ्जक बातें बताएँगे। पृथ्वी के सब सर्प नौ गणों अथवा वर्गों में विभाजित किए गए हैं। इनकी सूची पृ० २५९४ की तालिका में दी गई है। उक्त सूची से सहज में पता चलता है कि भारतवर्ष और ब्रह्मा में कहीं-न-कहीं सभी वर्गों के सर्प पाए जाते हैं।

सर्पों के नौ गण या वर्ग, वंश और उनके लक्षण तथा निवास-प्रदेश

गण का नाम	जाति-संख्या	निवास-प्रदेश	मुख्य लक्षण	विषैले या विषहीन
१. टाइफ़लोपिडी	१८	समस्त कटिबन्ध और उपकटिबन्धीय देश (स्थल)।	बिल बनानेवाले, केंचुए जैसे अंधे, कीटभुक्, पीठ और पेट पर समान आकार के छिलके।	विषहीन, निर्दोष
२. ग्लाकोनिडी	२	अफ़्रीका, दक्षिणी-पश्चिमी एशिया, अमेरिका के उष्ण भाग और पश्चिमी द्वीप-समूह (स्थल)।	बिल बनानेवाले, केंचुए जैसे अंधे, कीटभुक्। आँखों के चिह्न होते हैं। पेट पर छिलके और केवल नीचे के जबड़े में ही दाँत।	,,
३. इलीसिडी	२	दक्षिणी-पूर्वी एशिया, ब्रह्मा, मलाया प्रायद्वीप, लंका, इंडोचीन (स्थल)।	छोटे।	,,
४. यूरोपेलटिडी	४४	दक्षिणी भारत, पश्चिमी घाट तथा लंका की पहाड़ियाँ (स्थल)।	दो फ़ीट तक छोटे, लम्बे। छोटी पूँछ पर खुरदरी अद्भुत ढाल होती है।	,,
५. जीनोपेलटिडी	१	(स्थल) ब्रह्मा।	इन्द्रधनुष-सा रंगवाला।	,,
६. एम्बलीकिफेलिडी	५	आसाम, ब्रह्मा, पूर्वी हिमालय (स्थल)।	भुथुरी खोपड़ी वाला।	,,
७. बोइडी	४	बोआ वंश—दक्षिणी अमेरिका के गर्म देश, बिलोचिस्तान, भारतवर्ष, प्राचीन दुनिया के गर्म भाग, दक्षिणी मेक्सिको। अनाकोंडा—दक्षिणी अमेरिका और लंका।	बड़े डीलवाले अजगर। मलद्वार के दोनों ओर पिछली टाँग की जगह एक छोटा अंकुर रहता है। बड़े बली होते हैं और भेड़ - हिरन जैसे पशुओं को दबाकर मार डालते हैं तथा फिर उन्हें समूचे ही निगल जाते हैं। दुम से पकड़ने का काम लेते हैं। पेट के छिल्के इतने चौड़े नहीं होते कि पेट की पूरी चौड़ाई ढक सकें।	विषहीन, हानिकारक
८. वाइपेरिडी	१९	प्राचीन दुनिया, इंगलैंड, अफ़्रीका, योरप, एशिया।	ऊपरी जबड़े में दो विषैले दाँतों के अतिरिक्त और दाँत नहीं होते। बच्चे देते हैं, किंतु अंडे नहीं।	विषधर, हानिकारक, प्राणघातक
९. कोलुब्रिडी	२३१	उत्तरी गोलार्द्ध (जल-स्थल और वृक्षवासी)।	सबसे बड़ा गण, जिसमें बहुत से निर्दोष; कुछ थोड़े विषैले (जिनमें विषदंत पीछे रहते हैं), कुछ महान् विषैले (जिनमें विषदंत सामने होते हैं) सर्प सम्मिलित हैं।	१९ जातियाँ विषधर-प्राणघातक; शेष विषहीन

तीन सौ छब्बीस जातियों में से केवल अड़तीस जातियों के ही सर्प कम या अधिक विषैले होते हैं और ये सब सूची में दिए हुए अंतिम दो गणों में ही सम्मिलित हैं।

छोटे अंधे सर्प

अब हम कुछ खास-खास सर्पों का हाल लिखेंगे। स्थल पर बिल बनाकर रहनेवाले अति मनोरंजक सर्पों में से एक मलाया प्रायद्वीप का लाल चिह्न वाला सर्प है। वहाँ के निवासी उसे अपनी भाषा में 'ऊलर किपाल दुआ' अथवा दो सिर वाला साँप कहते हैं। उसके निराले स्वभाव के ही कारण उसे इस नाम से पुकारा जाता है। उसकी दुम का छोर लाल रंग के तीन प्रत्यक्ष धब्बों से सुशोभित रहता है। ये धब्बे थोड़ी देर के लिए दो आँखों और खुले मुँह का धोखा देते हैं। उठी दुम को देखकर देखनेवाले तत्काल ही भ्रम में पड़कर उसे गुस्से में भरे हुए जीव का-सा समझते है। यह सर्प भयभीत होते ही अपनी पूँछ ऊपर उठा लेता है और इससे पहले कि उसका शत्रु भ्रम से सचेत हो वह शीघ्र ही पीछे खिसक जाता है। यदि शत्रु वार भी करता है तो उसके सिर के स्थान पर दुम ही घायल होती है। इस प्रकार उसकी जान बचना सम्भव हो जाता है।

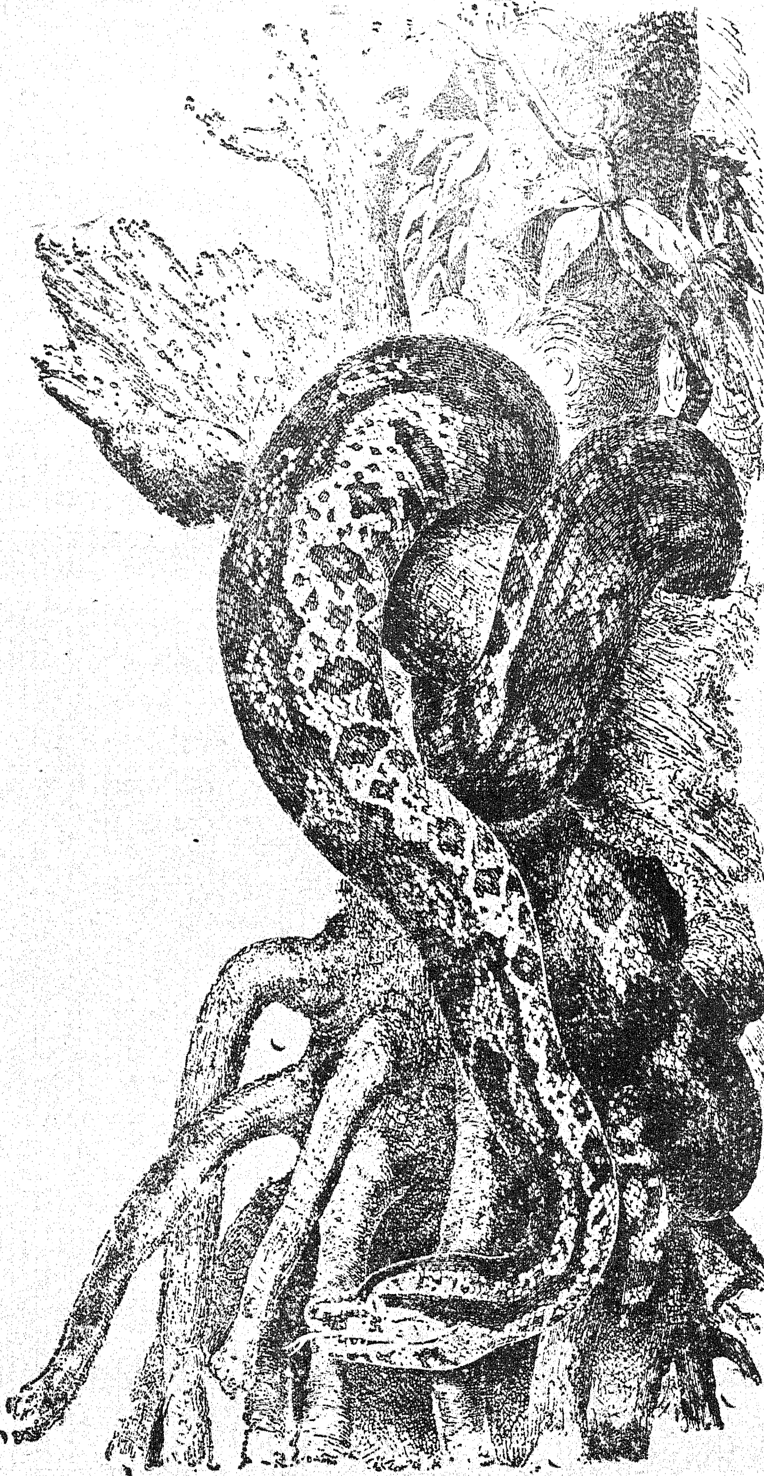
बिल बनानेवालों में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य सप 'जान्स' है। इसका भी शरीर मोटे केंचुए के समान प्रतीत होता है। इसीलिए बहुधा साधारण भारतवासी उसे दोमुँहा या दोमुँही कहते हैं। अधिकतर ये सर्प कच्चे घरों में निकल आया करते हैं और लड़के उन्हें हाथ में लटकाकर बाहर फेंक आते हैं। इनका रंग हल्का या चटक कत्थई होता है और पीठ पर टेढ़े-मेढ़े धब्बे होते हैं। कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं, जिनके ऐसे धब्बे नहीं होते।

विशालकाय सर्प—पाइथन या अजगर

सर्पों में सबसे बड़े सर्प विषहीन होते हैं, किन्तु अपने बल द्वारा वे बड़े-बड़े पशुओं को भी दबाकर मार डालते हैं। साधारणतया लोग इन सब बड़े सर्पों को अजगर के नाम से पुकारते हैं। इनके दो प्रमुख वंशों के नाम 'पाइथन' और 'बोआ' है। इन वंशों के सर्प दैत्याकार होने पर भी यथार्थ में प्राचीन हैं। पूर्वीय गोलार्द्ध के बिल बनानेवाले छोटे सर्पों के समान इन अजगरों में कूल्हे की हड्डी और पिछली टाँगों के शेष भाग अभी तक उपस्थित हैं। उनमें विष-सम्बन्धी हथियारों की नींव भी नहीं पड़ी है, फिर भी वे बड़े बलवान् और भयंकर हैं। बड़े-बड़े जानवरों के शरीर के चारों ओर अपने बदन को रस्सी के समान लपेटकर वे इतने बल से उन्हें जकड़ते हैं कि उनकी हड्डियाँ चूर-चूर हो जाती हैं और तुरन्त ही वे मर जाते हैं। तब ये अजगर उन्हें सिर की ओर से निगल लेते हैं।

पाइथन की कई जातियाँ पुरानी दुनिया में अफ्रीका, लंका, दक्षिणी भारत, बंगाल, आसाम, हिमालय, ब्रह्मा, स्याम, मलाया प्रायद्वीप, निकोबार अथवा पूर्वीय द्वीप-समूह और पूर्वीय आस्ट्रेलिया में पाई जाती हैं। एक और जाति नई दुनिया के दक्षिणी मेक्सिको में भी पाई जाती है। अजगर सब देशों की जन्तुशालाओं में पाले जाते हैं। भारतवर्ष के सँपेरे भी उन्हें अपनी पिटारियों में लिये घूमा करते हैं। अन्य सर्पों के विपरीत पाइथन के गर्दन भी रहती है, या यों कहिए कि उसका सिर पिछले भाग (गर्दन) से मोटा, मुँह बहुत बड़ा, और धड़ चिपटा तथा बीच में सबसे मोटा होता है। उसकी पीठ पर टेढ़े-मेढ़े चौकोर पीले रंग के चकत्ते रहते हैं।

सबसे बड़ा पाइथन मलाया और हिन्दचीन का जालीदार पाइथन है, जो कभी-कभी तीस फ़ीट से भी अधिक लम्बा होता है! उसकी मोटाई तरुण मनुष्यों की जाँघ के बराबर होती है। बड़े सर्पों के विषय में मनुष्यों ने बहुत-सी झूठी-सच्ची बातें गढ़ी हैं और उनके बहुत-से क़िस्से प्रचलित हैं। रोमनों के काल के एक अजगर के लिए कहा जाता है कि वह हाथी का गला घोंटकर उसे मार डालता था! एक शताब्दी पहले की प्रकृति-वैज्ञानिक पुस्तकों में लिखा है कि लंका में एक ऐसा महान् अजगर मिलता है, जो भैंसे को निगल जाता है। पर यह सब केवल काल्पनिक कहानी ही है। डाक्टर बूरजेस बारनेट ने एक ग्यारह फ़ीट के पाइथन को हिरन निगलकर बेहोश पड़ा देखा था। इसी प्रकार एक भारतीय पाइथन ने एक बार एक तेन्दुआ, जो दुम छोड़कर चार फ़ीट लम्बा था, खा लिया था। अजायबघरों में पले हुए पाइथनों को कभी-कभी सुअर के बच्चे और छोटे बकरे खाने को दिए जाते हैं। पर सब पाइथन इतने बड़े नहीं होते। भारतवर्ष और अफ्रीका के साधारण पाइथन पन्द्रह फ़ीट से अधिक लम्बे नहीं होते। अफ्रीका के पाइथनों में सबसे प्रसिद्ध पश्चिमी भाग में मिलनेवाले अजगर और दक्षिणी भागों के पहाड़ों पर रहनेवाले चट्टानी पाइथन हैं। ये अपनी सुन्दर खाल के लिए हज़ारों की संख्या में मारे जा चुके हैं। ऑस्ट्रेलिया में भी बड़े-बड़े सुन्दर रंग के पाइथन मिलते हैं, जो अपने रंग के हिसाब से कालीन, हीरा और याक़ूती पाइथन कहे जाते हैं। ऑस्ट्रेलिया का सबसे बड़ा पाइथन अंग्रेज़ी भाषा में स्क्रूब



नई दुनिया का दबोचनेवाला बोआ नामक अजगर
यह विशालकाय सर्प बीस फ़ीट तक लंबा पाया गया है।

कहलाता है। यह बीस फ़ीट लम्बा होता और उत्तर में पाया जाता है।

बोआ

बोआ की भी गणना पाइथन की तरह अजगरों में की जाती है। जिस प्रकार पाइथन विशेष-कर पुरानी दुनिया के निवासी हैं, उसी प्रकार बोआ अधिकतर नई दुनिया के जीव हैं और दक्षिणी अमेरिका के गर्म भागों में ही मिलते हैं। बोआ की दो जातियाँ बिलोचिस्तान, सिन्ध, पंजाब, गंगा की घाटी तथा निचले बंगाल में भी पाई जाती हैं।

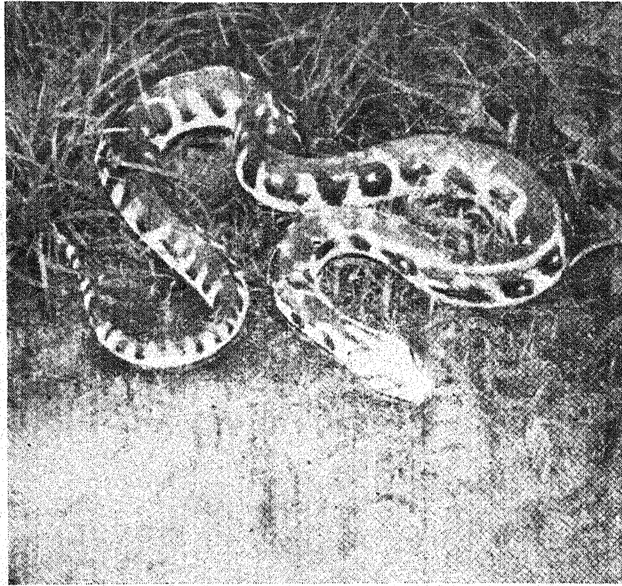
नई दुनिया का साधारण बोआ, जिसे दबोचनेवाला बोआ कहा जाता है, मेक्सिको से ब्रेज़ील के नीचे तक के जंगलों में विशेषकर पूर्वीय प्रदेश में पाया जाता है। ये सर्प अपने वंश में सबसे बड़े नहीं हैं। ये अधिकतर बारह फ़ीट के होते हैं, लेकिन कोई-कोई बीस फ़ीट तक भी लम्बे होते हैं। ये देखने में सुन्दर और स्वभाव में निर्दोष होते हैं। कभी-कभी चूहों की खोज में ये खेतों में भी चले जाते हैं।

बोओं के दाँत लम्बे तथा बड़े शक्तिशाली होते हैं। क्रोध में आकर ये शत्रु को अपने दाँतों से ऐसे कसकर पकड़ लेते हैं कि फिर उसका छूटना कठिन हो जाता है। बोओं और पाइथनों का अंतर पहचानने का एक सहज लक्षण यह है कि पाइथन के सिर पर छिलके बिल-कुल नहीं होते, जबकि बोओं के सिर के पिछले भाग में छोटे-छोटे छिलके होते हैं।

वृक्ष पर रहनेवाले छोटी जाति के बोआ भी बड़े भड़कीले रंग के होते हैं। इनमें सबसे सुन्दर बोआ दक्षिणी अमेरिका के उत्तरी-पश्चिमी देशों में पाए जाते हैं। उनके चमकीले चटक हरे रंग पर सफ़ेद और शर्बती रंग के ऐसे सुन्दर चित्र बने रहते हैं कि जिनकी शोभा का वर्णन करना कठिन है! सर्प-संसार में सम्भवतः ये सबसे सुन्दर प्राणी हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश वे अजायबघरों में बंदी होने पर पनप नहीं पाते। अन्य जातियों में से धनुषिये नामक बोआ अमेरिका में पाये जाते हैं और एक दूसरी जाति के मडागास्कर द्वीप में। वृक्षवासी बोआ साधारण बोआ और पाइथनों के समान अंडे नहीं देते। वे अपनी संतान को सशरीर जन्म देते हैं। इनका जन्म तो धरती पर होता है, परन्तु पैदा होते ही वे पेड़ पर चढ़ जाते हैं और भूमि पर के शत्रुओं से अपनी रक्षा करते हैं।

एनाकोण्डा

सबसे बड़े डील-वाले अजगरों की दो जातियाँ 'एनाकोण्डा' नाम से प्रसिद्ध हैं। यह शब्द लंका से निकला जान पड़ता है, क्योंकि एक एनाकोण्डा वहाँ मिलता है और दूसरा उष्ण कटिबन्धीय अमेरिका में। लंका की एनाकोण्डा जाति पाइथनों की कई जातियों में से एक है। वहाँ ऐसा एक अजगर तेंतीस फ़ीट लम्बा मिला था! अमेरिका के एनाकोण्डा बोआ गण के सर्प हैं, जिन्हें वैज्ञानिक भाषा में यूनेक्टीस म्युरीनस कहते हैं। उनकी पीठ पर काले धब्बों की दोहरी क़तारें होती हैं। सर्प-संसार में इस भयानक अजगर की गणना सबसे विशालकाय सर्पों में की जाती है। ये तीस-चालीस फ़ीट तक लम्बे होते हैं। बुटानटन (ब्रेज़िल) के अजायबघर में एक एनाकोण्डा की बत्तीस फ़ीट लम्बी खाल रक्खी है! एनाकोण्डा अर्धजलचर जीव है। यह विशेषकर रात्रि में शिकार करता है। पानी में पड़ा हुआ यह उन जानवरों की घात में रहता है, जो नदी के किनारे अपनी प्यास बुझाने आते हैं। कहा जाता है कि नई दुनिया का एनाकोण्डा अपने पुरानी दुनिया के भाइयों के समान पेड़ पर भी चढ़ जाता है और वहीं से लटके-लटके नीचे से निकलनेवाले शिकार को धर दबाता है। पृष्ठ २५८८ पर इस भयानक जीव का एक चित्र दिया गया है।



भारतीय पनियर सर्प—यह विषैला नहीं होता। यह स्वभाव से उम्दा तैराक तो होता ही है, साथ ही बड़ी तेज़ी से धरती पर रेंग भी सकता है।

बिना विषदंत के अन्य सर्प

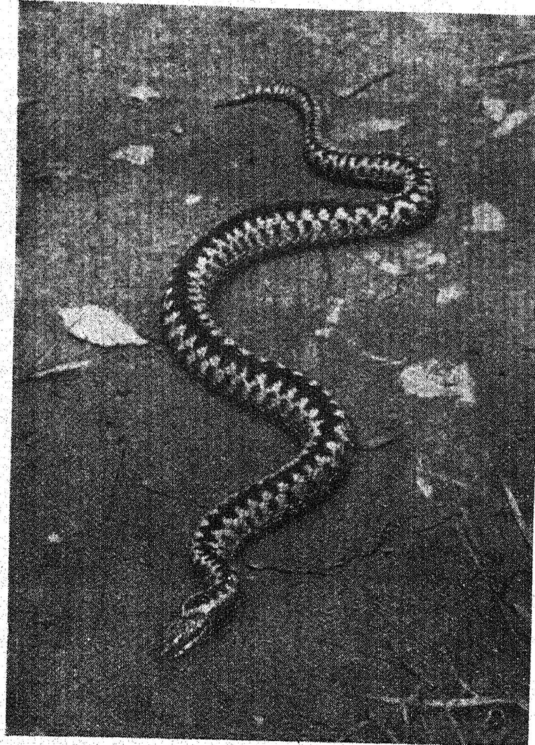
बिना विषदंतवाले लाक्षणिक सर्पों में से अफ़्रीका-निवासी अंडा तोड़नेवाले एक उपसमूह का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। शेष उपसमूहों में नाना प्रकार के स्थल, जल अथवा वृक्ष पर रहनेवाले सर्प हैं, जो लगभग डेढ़ सौ वंशों में विभाजित है। इनमें से एक घास में रहनेवाले सर्प हैं, जिनकी मध्यमान लम्बाई लगभग तीन फ़ीट होती है। ये प्रायः पानी के आस-पास ही रहते हैं, क्योंकि इन्हें तैरना और मेंढक खाना अति प्रिय होता है। ये सर्प भूलकर भी काटने की चेष्टा नहीं करते। फिर भी बेचारे हानिकारी समझे जाकर मार डाले जाते हैं। किन्तु इनमें से बहुत-से निर्दोष सर्प शत्रुओं को इस बात का धोखा देने के लिए कि वे विषैले हैं, भरसक प्रयत्न करते हैं। भारतीय 'चूहे-सर्प', जिन्हें हम 'धामन' नाम से पुकारते हैं और जिनकी कई जातियाँ हैं, सिर उठाकर नाग की भाँति आक्रमण करते हैं।

अन्य अहानिकर सर्प इससे भी अधिक चकमा देते हैं। उत्तरी अमेरिका के सुअर-जैसी नाकवाले सर्प का सिर चिपटा और तिकोना होता है, जिससे देखनेवाले यह समझकर कि इनके विष-ग्रन्थियाँ हैं, उनसे सतर्क हो जाते हैं। इतना ही नहीं, वे अपनी गर्दन को भी चिपटा कर लेते हैं,

और मुँह खोलकर फुफकार छोड़ते हैं, ताकि अनजान मनुष्य उन्हें प्राणघातक समझ उनसे दूर भाग जाएँ।

यहाँ हमें ऐसे एक और सर्प का ध्यान आता है, जिसके विषय में सब भारतवासियों को जानकारी रखना चाहिए। वह है 'भेड़िया सर्प' अथवा 'उल्फ़ सर्प'। इस निर्दोष सर्प का रूप-रंग ऐसा होता है कि मनुष्य को सहसा वह विषैला साधारण करैत जैसा जान पड़ता है। दोनों ही जाति के सर्पों की काली पीठ पर सफ़ेद डमरू की शक्ल की दोहरी अर्ध-गोलाकार धारियाँ होती हैं। दोनों में भिन्नता यह होती है कि भेड़िया सर्प में ये धारियाँ सिर से आरम्भ होकर पूँछ की नोक से कुछ पहले ही समाप्त हो जाती हैं और विषैले करैत में सिरे से थोड़ी दूर पर वे आरम्भ होती और पूँछ के छोर तक चली जाती हैं। यह भेद याद रखने योग्य है, क्योंकि ये दोनों सर्प आबादी में रहना पसंद करते हैं और घरों के निकट पाये जानेवाले सर्पों में से आधे ये निर्दोष भेड़िया-सर्प ही होते हैं।

ब्रेज़िल का झूठा दबोइया (वाइपर) धोखा देने में बड़ा मक्कार होता है। उसके विषदंत जैसे बड़े दाँत होते हैं, परन्तु उनमें विष-प्रणाली नहीं होती। ये झूठे विषदंत देखने भर के ही होते हैं। ऐसा माना जाता है कि विषमय सर्पों का विकास इसी समूह के सर्पों में से हुआ है।



ब्रिटेन का एकमात्र विषैला सर्प—वाइपर
इस सर्प का दंतक्षत घातक होता है, साथ ही इसमें विष-संबंधी व्यवस्था भी अन्य सर्पों से अधिक विकसित होती है।

सर्पों में विष-सम्बन्धी व्यवस्था

सर्पों में विष उत्पन्न करने की क्रिया बड़ी ही मनोरंजक है। जिस प्रकार हमारे मुँह में थूँक बनानेवाली ग्रन्थियाँ हैं, उसी प्रकार इन उरंगमों में भी थूँक उत्पन्न करनेवाली ग्रन्थियाँ हुआ करती हैं। इनमें से आँख के पासवाली ग्रन्थियाँ धीरे-धीरे विकसित होकर थूँक के स्थान पर विष उत्पन्न करने लगती हैं। विकास की दूसरी सीढ़ी पर विषदंत नियत हो जाते हैं और तब ग्रन्थियों का सरोकार इन दाँतों तथा जबड़े की मांस-पेशियों से हो जाता है। स्थानाभाव के कारण हम यहाँ इस व्यवस्था का विस्तृत वर्णन करने में असमर्थ हैं, किन्तु उपर्युक्त पंक्तियों से आप यह समझ गए होंगे कि सर्प का विष वास्तव में उसका एक विशेष प्रकार का थूँक ही है।

झूठे वाइपर-समूह के सर्पों की विष-ग्रन्थियाँ मुँह में बहुत पीछे की ओर होती हैं। इनसे निकलनेवाली छोटी नलिकाएँ झूठे विषदंतों की जड़ के पास खुलती हैं। अतः विष दाँतों में होकर नहीं आता, वह तो मुँह के भीतर ही रह जाता है। उसका कर्त्तव्य मुँह में पहुँचे हुए घायल शिकार के अन्दर प्रवेश करने और शिथिल करके उसे मार डालने का होता है, जिससे सर्प उसे सहज में निगल ले। यह व्यवस्था उस व्यवस्था से कहीं घटिया है, जो नाग और करैत जैसे घातक सर्पों में पाई जाती है। यही कारण है कि पीछे की ओर विषदंतवाले सर्प कम विषैले माने जाते हैं और आगे की ओर विषदंतवाले सर्पों से, जो कि महान् विषैले होते हैं, वे पृथक् रक्खे जाते हैं। अतः लाक्षणिक सर्पों के तीन समूह माने गए हैं—(१) बिलकुल निर्दोष सर्प; (२) पीछे की ओर विषदंतधारी सर्प; (३) अग्र-विषदंतधारी सर्प।

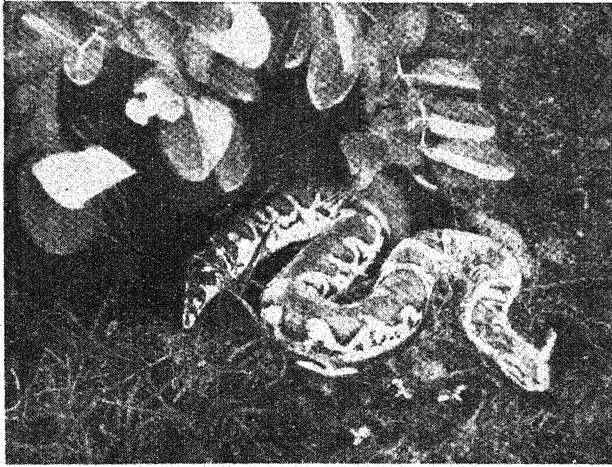
पीछे की ओर विषैले दाँतवाले सर्प

पीछे की ओर विषदंतधारी सर्पों में से अभी तक केवल एक ही सर्प मनुष्य के लिए अधिक विषैला सिद्ध हुआ है और वह है दक्षिणी अफ़्रीका का 'बूमस्लैंग'। डच भाषा में बूम का अर्थ वृक्ष और स्लैंग का अर्थ है सर्प। बूमस्लैंग वृक्ष पर रहनेवाला एक बड़ा सर्प है। विज्ञानवेत्ता इसे

बहुत समय तक अहानिकर समझते थे, पर अफ्रीका-निवासी इसे विषैला मानते थे। साधारणतया जनता के प्रचलित विचार ही सही निकल जाते हैं। कई एक योरपीय इनके काटने पर मृत्यु से बच भी गए हैं। सम्भव है कि इनमें विषैले दाँत पीछे होने के कारण उनका पूर्ण प्रभाव मनुष्य पर न पड़ पाता हो!

पीछे की ओर विषैले दाँतवाले सर्पों में सबसे सुन्दर विटपवासी सर्प ही होते हैं। मलाया का काला तथा सुनहरा सर्प, एवं भारतवर्ष के दक्षिणी-पूर्वी भाग में तथा ब्रह्मा में १,५०० फ़ीट की ऊँचाई पर पाए जानेवाले सर्प बड़े ही मंजुल होते हैं। इनका चटक रंग वृक्ष के पत्तों और उनकी छाया से तथा पतला शरीर शाखाओं अथवा टहनियों से ऐसा मिल जाता है कि बहुधा पथिक उसे देख ही नहीं पाता।

अमेरिका के नुकीले सिरवाले भूरे वृक्षवासी सर्पों में हमें रंग द्वारा अदृश्य होनेवाले सर्पों का एक उत्तम उदाहरण मिलता है। जिस प्रदेश में लाइना नामक लता (जो कि देखने में रस्सी के समान भूरे रंग की होती है) बहुतायत से पाई जाती है, वहाँ के घने जंगलों में ये रहते हैं। इस लता की छाल और इस सर्प के शरीर पर एक जैसे धब्बे होते हैं। उनमें इतनी समानता होती है कि वहाँ के लोग सर्प तथा लता दोनों को एक ही नाम—'बेजूको'—से पुकारते हैं। सर्प लता की जटाओं में फंदा डाले चुपचाप लटके रहते हैं और पास से निकलनेवाली छिपकलियों को हड़प कर अपना पेट भरते हैं। ये जीव पक्के वृक्षवासी होते हैं, कदाचित् ही भूमि पर उतरते हों। असावधान छिपकलियों को यह अस्पष्ट सर्प धोखा देकर शीघ्र ही काल के मुँह में पहुँचा देता है।



भारतीय दुमुँहा सर्प

इस साँप के दरअसल दो मुँह नहीं होते, केवल उसकी दुम ऐसी बनी होती है कि दूसरा मुँह होने का भ्रम हो जाता है।

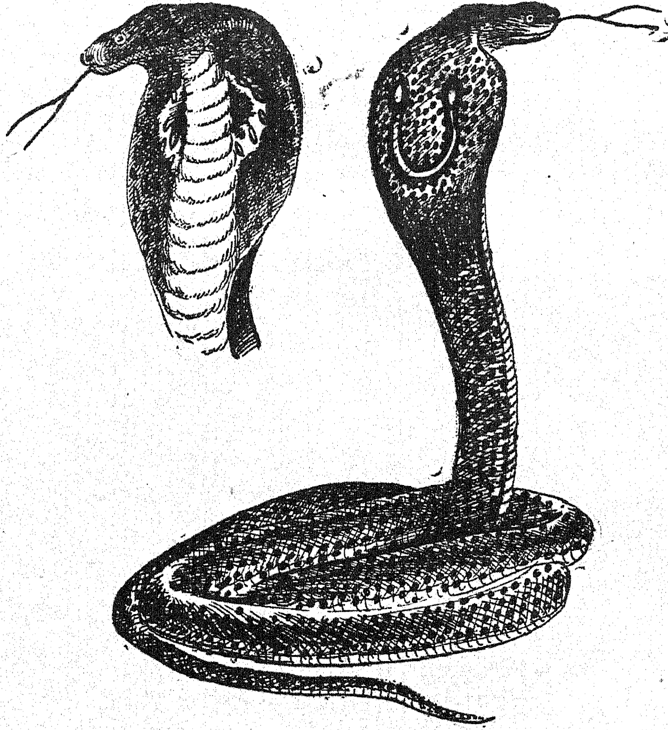
अग्रविषदंतधारी सर्प

सब प्राणघातक सर्पों में विषदंत आगे की ओर रहते हैं। अब हम अपने तथा अन्य देशों में पाये जानेवाले ऐसे ही भयंकर तथा विचित्र सर्पों का संक्षिप्त वर्णन करेंगे। अति विषैले कोलुब्रिडी वर्ग के सर्प चार समूहों में विभाजित हैं—कोबरा, करैत, कोरल और कापरहेड। इन सबमें विष की बड़ी ग्रन्थियाँ होती हैं और विष के दाँत मुँह में आगे की ओर रहते हैं, अतः शिकार पर आक्रमण करते समय वे सहज में उस तक पहुँच जाते हैं। पीछे की ओर विषदन्तवाले सर्पों के दाँतों की अपेक्षा आगे के विषदन्तवाले सर्पों के दाँत अधिक उपयोगी होते हैं। इनमें विष ले जानेवाली प्रणाली एक नलिका में होकर दाँत के छोर तक पहुँच जाती है। ये विषदन्त मानों एक प्रकार की इंजेक्शन देनेवाली महीन पिचकारियाँ हैं, जो विष को छेद के पेंदे तक पहुँचा देती हैं। योरप को छोड़कर अन्य सभी महाद्वीपों में ये विषमय सर्प पाये जाते हैं और सर्प द्वारा मृत्यु होनेवाले प्राणियों की हत्या में सबसे बड़ा हाथ इन्हीं का है। इन चारों समूहों में से सबसे अधिक मृत्यु कोबरा द्वारा होती है।

नागों में सबसे भयानक और तेजस्वी वे हैं, जिन्हें हम अपने देश में शेषनाग, महानाग, नागराज अथवा शंखचूड़ के नाम से पुकारते हैं। ये बड़े वीर और निपुण होते हैं। इनका सिर चिपटा, मुड़ा हुआ, थूथनी के समान होता है, जिसके पीछे गरदन की खाल फैलकर फन का रूप धारण कर लेती है। यह फैलाव पसलियों के फैलते ही खाल के तन जाने से होता है। इनकी आँखों में विचित्र ज्योति होती है, जिससे वे बहुत सचेत प्रतीत होते हैं। इनका रंग जैतूनी या गहरे भूरे से लेकर बिल्कुल काला तक होता है, जो अनोखा-सा दिखता है। उसमें जहाँ-तहाँ पीलापन और कालिमा लिये हुए कुछ पट्टियाँ होती हैं और कभी-कभी ये पट्टियाँ छोटी-छोटी चित्तियों से युक्त होने के कारण धब्बेदार रेखायें जैसी लगती हैं। युवा शेषनाग का रंग नवजात नाग से बिल्कुल भिन्न होता है। साधारणतया शेषनाग की लम्बाई ग्यारह-बारह फ़ीट की होती है, किन्तु

कोई-कोई नाग पन्द्रह-सोलह फ़ीट लंबाई के भी मिले हैं! पौराणिक गाथाओं के अनुसार पृथ्वी एक हज़ार फनवाले महान् शेषनाग के सिर पर रक्खी हुई है और जब वह महान् शेष जँभाई या अँगड़ाई लेता अथवा करवट बदलता है तब भूमि हिलती है और भूमि के इस हिलने को भूडोल कहते हैं! इसी सम्बन्ध में एक और रोचक बात हमें सुनने को मिली है। कुछ पंडितों का कथन था कि पुरानी दिल्ली की प्रसिद्ध लोहे की लाट शेषनाग के सिर पर गड़ी हुई है। कहा जाता है कि महाराज पृथ्वीराज ने इस कथन की वास्तविकता जानने के लिए उसे खोदने की आज्ञा दी और खोदने पर वास्तव में लाट के सिरे पर रुधिर प्राप्त हुआ! दिल्ली-अधिपति द्वारा इस प्रकार सताये जाने पर उस नागराज ने श्राप दिया, जिसके फलस्वरूप उस राजा का राज्य नष्ट हो गया!

उपर्युक्त विचारों के सम्बन्ध में हमें कुछ कहना नहीं है, पाठक स्वयं ही वास्तविकता को परख लें। किन्तु यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि भारतवासी नागराज से सदैव भयभीत रहते आए हैं और उसे अलौकिक शक्तिधारी मानते हैं।



अति विषैला और भयानक सर्प—गेहुअन नाग या कोबरा

इसके फन पर पीछे की ओर गाय के खुर की शक्ल का एक काला और सफेद चिह्न बना रहता है। चित्र में इसका सामने का भाग भी प्रदर्शित है।

नागराज विश्व का सबसे अधिक विषमय तथा घातक सर्प है। वह बहुत ही फ़ुर्तीला तथा शीघ्रगामी होता है। कहा जाता है कि थोड़ी दूर आगे गए हुए घोड़े को भी वह सरलता से पकड़ लेता है। वह शीघ्र ही क्रोधित होनेवाला और आक्रमण के लिए सदैव प्रस्तुत रहनेवाला प्राणी है। जिस समय वह पृथ्वी से अपना धड़ ऊपर उठाकर, फन फ़ुलाये, चमकीली आँखें निकालकर खड़ा हो जाता है, उस समय कौन ऐसा प्राणी होगा जो स्वयं भयभीत न होकर उसे डरा सके? प्रसव-काल तथा वर्षा के पश्चात् इसका क्रोध और भी तीव्र हो जाता है और ज़रा-सी भी छेड़-छाड़ करने पर वह सीधा शत्रु पर टूट पड़ता है। परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि शेषनाग किसी प्राणी को देखते ही उसका पीछा करता है। वस्तुतः क्रुद्ध होने पर ही वह हमला करता है। अन्य विषधर सर्पों की अपेक्षा उसमें विष कहीं अधिक होता है। राजर्स साहब का कथन है कि एक आदमी को मारने के लिए जितने विष की आवश्यकता होती है, उसका दस गुना विष शेषनाग के एक दाँत मारने में निकला करता है।

यह हमारा परम सौभाग्य है कि यह नागराज प्रचुर नहीं है और जंगलों के कट जाने से उसकी संख्या धीरे-धीरे और भी कम होती जा रही है। भारत में यह विशेषकर हिमालय, आसाम और दक्षिणी भारत के सदा हरे घने पहाड़ी जंगलों के एकान्त स्थानों में ही निवास करता है। किन्तु मैदानी जंगलों में भी यह जीवन व्यतीत कर सकता है। पहाड़ियों पर यह समुद्रतल से सात हज़ार फ़ीट की ऊँचाई तक पाया जाता है। यह बहुधा वृक्षों पर चढ़ जाता है और बड़ा अच्छा तैराक भी होता है। भारतवर्ष के अतिरिक्त यह ब्रह्मा, इन्डोचीन, दक्षिणी चीन, अंडमन द्वीप-समूह, मलाया प्रायद्वीप तथा फ़िलीपाइन द्वीप-समूह में भी मिलता है।

इन राक्षसी उरंगमों का भोजन भी बड़ा विचित्र है। ये मुख्यतः अन्य सर्पों को खाना ही पसन्द करते हैं, चाहे वे विषहीन हों अथवा विषमय। करैत जैसे विषैले सर्पों को समूचा निगल जाने पर भी यह सर्प जैसे का तैसा रहता है!

बम्बई के एक संग्रहालय में एक नाग अन्य फनियर नागों को वैसे ही खा जाता था, जैसे निर्दोष साँपों को। एक बन्दी शेषनाग ने तो इतने सर्प खाए थे कि वे एक में मिलाने से १६४ फ़ीट लम्बे होते थे! इसीलिए संस्कृत में इसका एक नाम 'भुगगभुक्' भी है।

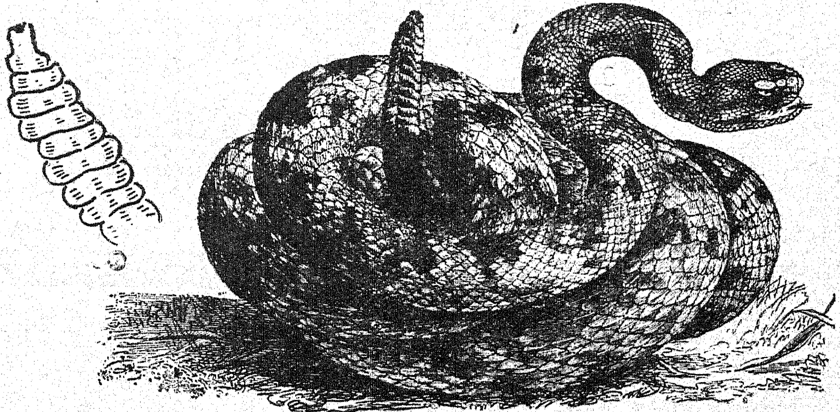
फनवाला गेहुँअन नाग

शेषनाग के पश्चात् दूसरा भयानक सर्प कोबरा है, जो हमारे देश में नाग, फनियर, गेहुँअन अथवा गोखुरा नाम से प्रसिद्ध है। इससे भी लोग भयभीत रहते हैं। लम्बाई में तो यह केवल छः फ़ीट होता है, किन्तु इसका फन नागराज के फन से भी बड़ा होता है और यह भी जोश या क्रोध में अपना शरीर उठा लेता है। यही कारण है कि यह फनियर कहलाता है। गेहुँआ अथवा खैरे रंग का होने के कारण लोग इसे गेहुँअन भी कहते हैं। इसके फन पर पीछे की ओर बहुधा गौओं के खुर की भाँति काला और सफ़ेद चिह्न रहता है और फन के नीचे की ओर भी इसी प्रकार के दो या एक धब्बे होते हैं। दो धब्बेवाले सर्प को कलकत्ते के आस-पास रौखुड़ा कहा जाता है। एक धब्बेवाले को कहीं-कहीं क्यूटिया भी कहते हैं। अंग्रेज़ी भाषा में फनवाले चिह्न को चश्मे के आकारवाला माना जाता है। कभी-कभी यह चिह्न नहीं भी रहता और कुछ नाग ऐसे भी हैं, जो फन निकाल ही नहीं सकते।

गेहुँअन सर्प खटका पाते ही घबड़ा जाता है और छेड़ने पर शीघ्र ही सिर उठाकर फन फैलाये धनुषाकार रूप में अपनी गर्दन टेढ़ी करके खड़ा हो जाता है और जिस जीव से रुष्ट होता है उस पर थोड़ी-थोड़ी देर में आक्रमण करता है। आक्रमण करते समय वह तेज़ फुफकारी छोड़ता हुआ उठे हुए टेढ़े धड़ को आगे फेंक-कर मारता है। कभी-कभी क्रोधित होने पर यह नाग अपने शत्रु के पीछे दौड़ता भी है और पास आने पर सिर उठाकर आक्रमण करता है। काटते समय यह बहुत देर तक शत्रु के शरीर में दाँत घुसेड़े रहता है, जिससे घाव में काफ़ी विष प्रवेश कर जाय और शिकार बचने न पाए। यह नाग साधारणतः छछूँदर, चूहा तथा मेंढक पर जीवन-निर्वाह करता है। चूहे का पीछा करते हुए यह बड़ी तेज़ी से भागता है और मेंढक पकड़ते समय इसका सिर मेंढक की उछाल के साथ हवा में दिखाई देता है और बात की बात में मेंढक उसके मुँह में प्रवेश कर जाता है।

प्रत्येक मदारी दो-एक ऐसे साँप अपने साथ लिये रहते हैं और बीन बजाकर इनका खेल तथा नेवले से इनकी लड़ाई दिखाकर पैसा कमाते हैं। यदि आपने यह युद्ध देखा है तो क्या कभी यह भी विचार किया है कि नेवले से लड़ते समय सर्प सदैव अपना बचाव ही क्यों करता रहता है? वह नेवले पर आक्रमण क्यों नहीं करता? इसका कारण सरल है। नेवला सर्प का भोजन नहीं है और वह अपनी स्वाभाविक बुद्धि से जानता है कि नेवला उसे कोई विशेष हानि नहीं पहुँचा सकता। अतएव ऐसी अवस्था में उस पर आक्रमण करना व्यर्थ है।

भारतीय कोबरा एशिया महाद्वीप के सभी पूर्वी-दक्षिणी देशों में मिलता है, पर भिन्न-भिन्न स्थानों में इसमें कुछ अन्तर मिलता है। सम्पूर्ण काला नाग मलाया में ही होता है। चश्मे जैसे चिन्हवाला नाग बहुधा मकानों तथा झोपड़ों के आस-पास रहता है और एक आँख जैसे चिन्हवाला नाग विशेषकर दलदल में ही पाया जाता है। कहीं-कहीं के लोग इस घातक जीव की उपासना भी करते हैं और नागदेव को दूध पिलाकर प्रसन्न करते हैं। किन्तु यह बड़ी अज्ञानता तथा भूल है। इसकी भी एक कहानी है। एक समय कोई देवता जंगल में सोए हुए थे कि उन पर धूप



झनझनिया सर्प (Rattlesnake) और उसकी विचित्र दुम
यह साँप विषैला होता है और इसकी ख़ास विशेषता इसकी दुम होती है, जो चित्र में बाईं ओर को अलग से दिखाई गई है। जब कोई खटका होता है तो यह इस दुम को झनझनाता है।

आ गई। यह देखकर एक नाग पास गया और अपना फन फैलाकर उसने देवता के मुख पर छाया कर दी। इस बात से देवता इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने सर्प को आशीर्वाद दिया। उसके सिर पर उन्होंने जो हाथ रक्खा उसकी ही अँगुलियों का चिन्ह उस सर्प के फन पर बन गया। तभी से नाग के फन पर यह पवित्र चिन्ह रहने लगा और लोग उसकी उपासना करने लगे!

करैत बंगेरस वंश का सर्प है, जो संयुक्त प्रान्त में बहुत मिलता है। इसका विष नाग के विष से चौगुना-पचगुना अधिक तीव्र होता है। यह छोटा—चार फ़ीट का—सर्प अपने से बड़े नागों से कम घातक नहीं होता। यह समूहों में बस्तियों के निकट खेतों में या छोटी झाड़ियों के जंगलों में पानी के आस-पास रहना पसन्द करता है। करैत साधारणतः अन्य साँपों को खाता है, परन्तु कभी-कभी चूहे, छिपकलियाँ, मेढक आदि भी वह खा लेता है। दिन में तो यह छिपा रहता है और रात्रि में भोजन की खोज में निकल पड़ता है। छेड़े जाने पर यह अपने सिर को शरीर की कुण्डलियों में छिपाकर निश्चिन्त हो जाता है और थोड़ी देर तक चुप्पी साधे पड़ा रहता है।

साधारण करैत की पहचान यह है कि उसकी चमकीली काली या चटक कत्थई रंग की पीठ पर आर-पार पतली श्वेत धारियाँ पड़ी होती हैं, जो सिर के पीछे से आरम्भ होकर पूँछ के छोर तक चली जाती हैं। इसके पेट का रंग मोती के समान सफ़ेद होता है। पीठ के मध्य भाग के छिलके बगल के छिलकों से बड़े और कुछ-कुछ पतले होते हैं। उसकी दुम के नीचेवाले छिलके समूचे होते हैं।

करैत की एक जाति के पीठ पर पीले और काले गंडे अर्थात् चौड़ी धारियाँ पड़ी रहती हैं। ऐसे करैत को चितकौड़िया और साधारण करैत को कौड़िया चितकौड़िया भी कहते हैं। चितकौड़िया करैत विशेषकर जङ्गली स्थानों में रहना पसन्द करता है।

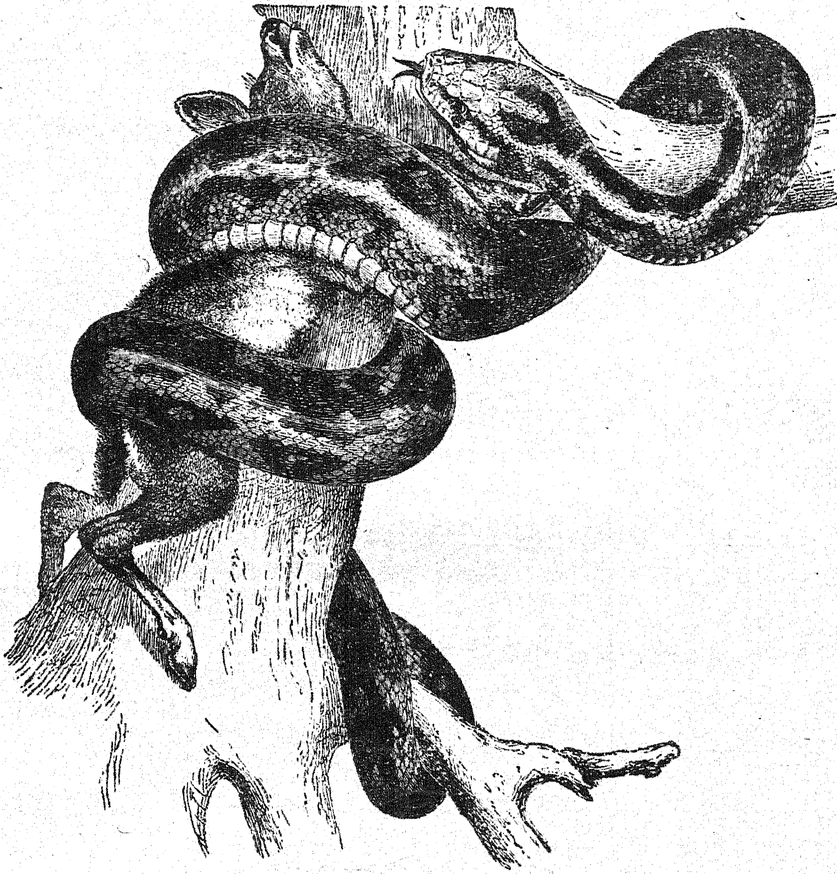
विष थूकनेवाले भयानक सर्प

अफ़्रीका में सात जातियों के नाग पाए गए हैं। इनमें से सबसे भयानक 'वृक्ष कोबरा' अथवा माम्बा है। वह अधिकतर दक्षिणी भागों के जंगलों में मिलता है। उसकी दो जातियाँ हैं—एक हरा, जो नौ फ़ीट तक लंबा होता है और दूसरा काला, जिसकी लम्बाई लगभग १३ फ़ीट की होती है। नागराज के बाद सबसे अधिक और अत्यन्त प्राणघातक विष काले माम्बा में ही होता है। अफ़्रीका में एक और विचित्र नाग रिंघल (जिसे दक्षिणी अफ़्रीका का थूथनवाला नाग कहते हैं) पाया जाता है। इस प्रदेश के अतिरिक्त यह विश्व के किसी भी भाग में नहीं पाया जाता। इसमें दो विशेषताएँ होती हैं—पहली यह कि क्रोध करने पर यह मुँह से फुफकारी के साथ ऐसी तेज़ी से विष थूकने लगता है कि उसकी बौछार ढाई-तीन हाथ दूर तक जाती है। विष की छींट आँख में पड़ने से तेज़ जलन होने लगती है और प्रायः आँख फूट भी जाती है। इसीलिए इस साँप को पकड़ते समय सँपेरे अपनी आँखों की रक्षा के हेतु चश्मे पहन लेते हैं। दूसरी विशेष बात यह है कि यह अन्य नागों के समान अंडे नहीं देता, वरन् छोटे-छोटे बच्चे देता है।

ऑस्ट्रेलिया महाद्वीप भी अपने विषैले सर्पों के लिए प्रसिद्ध है। वहाँ के समस्त सर्पों में से दो तिहाई सर्प विषैले हैं, किन्तु १०५ जातियों में से केवल पाँच जातियाँ ही प्राणघातक हैं। ये सब उसी कोलुब्रिडी गण के जीव हैं, जिसमें कोबरा और करैत सम्मिलित हैं। इनमें सबसे बड़े और सबसे विषैले भूरे रंग के टाइपन और देखने में ताँबे जैसे सिर वाले कोपरहैड सर्प हैं। टाइपन की लम्बाई दस फ़ीट या उससे भी अधिक होती है और वह भयंकर भी अधिक होता है। मनुष्य को देखते ही वह एकाएक आक्रमण कर बैठता है और एक बार ही में विष के इतने बूँद काटे हुए घाव में भर देता है कि जो बीस आदमियों को ठिकाने लगाने के लिए यथेष्ट होता है!

मणि जैसे सुन्दर सर्प

अमेरिका महाद्वीप में अग्रदंतधारी विषमय सर्पों की एक जाति होती है, जो कोरल कहलाती हैं। ये सब सर्प असाधारण मनोहर होते हैं। उन पर अत्यन्त सुन्दर चित्रकारी बनी रहती है। उन्हें देखने से ऐसा प्रतीत होता है, मानों चमकते हुए चटकीले लाल और पीले मूँगे के छिलके एक के पीछे एक जड़ दिए गए हों। कैसे आश्चर्य की बात है कि ये मणि जैसे सुरूप जीव भी अत्यंत विषैले हैं। उनकी लम्बाई दो या तीन फ़ीट की होती है और सिर भी छोटा ही होता है, इसलिए वे मनुष्य जाति पर अपने विष का प्रयोग बहुत कम कर पाते हैं। उनके विषदंत बहुत लम्बे होते हैं। साधारण दशा में ये दाँत मुख के पीछे रहते हैं, परन्तु जब सर्प चोट करने को होता है तो वे मुड़कर जबड़ों के सामने निकल आते हैं। यदि वे सदा इसी अवस्था में रहें तो सर्प के लिए भोजन पाना और मुँह बन्द करना कठिन हो जाय। अचम्भे की बात है कि ये प्राणघातक जीव भी बड़े सहज में पाले जा सकते हैं। पीरू में एक स्कूल के मास्टर साहब ने ऐसे दो साँप निर्दोष जानकर पाल लिये थे। वे



पाइथन वंश का महान् सर्प—अजगर

यह संसार का सबसे बड़ा और भारी सर्प माना जाता है। कोई-कोई अजगर ३० फ़ीट से भी अधिक लंबे और लगभग तीन मन तक भारी पाए गए हैं। अजगर के बारे में यह प्रसिद्ध है कि वह अपने शिकार को समूचा ही निगल जाता है। उसकी जकड़ इतनी सुदृढ़ होती है कि एक बार उसके पाश में फँसने पर फिर शिकार की हड्डी-पसलियों की कुशल नहीं। चित्र में पेड़ के तने से एक हिरन को जकड़े हुए यह दैत्याकार जीव दिग्दर्शित है।

उन्हें अपनी मेज़ की दराज में रखते थे। किन्तु दोनों सर्प उसमें से निकलकर इधर-उधर घूमा करते और मास्टर की क़लम और हाथ पर चढ़कर खेला करते थे। लोगों के कहने पर भी मास्टर साहब अपने इन पालतू खिलौनों को न छोड़ते थे। परन्तु एक दिन जब उनमें से एक ने एक छिपकली को, जो उसे खाने को दी गई थी, एक ही चोट में ऐसा बेजान कर डाला कि मानों उस पर बिजली गिर पड़ी हो, तब मास्टर साहब की आँखें खुलीं और उन्होंने उन सर्पों को जंगल में छुड़वा दिया।

विषमय तथा विषहीन सर्पों की अचूक पहचान

शोक की बात है कि हमारे देश में कई सौ मनुष्य प्रतिवर्ष सर्प के काटने से मरते हैं तो भी उनके विषय में अब तक जनता को इतना ज्ञान नहीं है कि जान सके कि मनुष्य को विषैले अथवा विषरहित सर्प ने काटा है। इसकी पहचान जानना आवश्यक है और यह इतनी कठिन भी नहीं है कि साधारण व्यक्ति जान न सकें। यह अवश्य कहा जा सकता है कि यह पहचान डीलडौल, फन या ऐसी ही मोटी-मोटी बातों से नहीं हो सकती। कुछ सहायता पूँछ के आकार से मिल सकती है, किन्तु सर्प के शरीर पर जो चिह्न और स्केल अथवा सिन्ने होते हैं, यदि उनकी सावधानी से जाँच की जाय तो ठीक-ठीक पता लग जाता है कि अमुक सर्प विषधर है अथवा विषहीन। इस विषय की जानकारी के लिए अगले पृष्ठ पर दी गई सचित्र तालिका देखिए।

विषैले और विषहीन सर्पों के पहचानने की रीति

पूछ दाहिनी-बाईं ओर से चिपटी हो
तो
सर्प समुद्री **विषैला** होगा

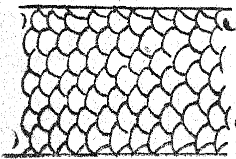


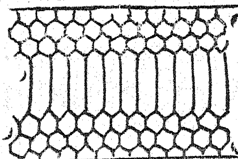
पूँछ गोल या लगभग गोल हो
तो
सर्प स्थलवासी **विषैला** या **विषहीन** होगा

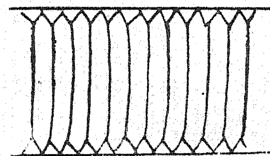
पीठ और पेट पर एक ही जैसे स्केल या सिन्ने हों
तो
सर्प **विषहीन** होगा

पेट पर के सिन्ने बड़े और चौड़े हों, लेकिन इतने नहीं कि पेट की पूरी चौड़ाई ढक लें
तो
सर्प **विषहीन** होगा

पेट पर के सिन्ने इतने चौड़े हों कि पेट की पूरी चौड़ाई ढक लें
तो
सर्प **विषहीन** या **विषैला** होगा



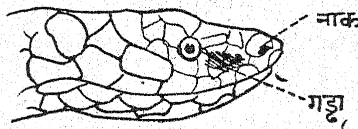




सिर पर छोटे-छोटे स्केल हों और नाक व आँख के बीच में गड्ढा हो
तो
सर्प **विषैला**—गड्ढेदार दबोइया होगा

सिर पर छोटे-छोटे स्केल हों परन्तु नाक व आँख के बीच में गड्ढा न हो
तो
सर्प **विषैला**—बिना गड्ढेदार दबोइया होगा

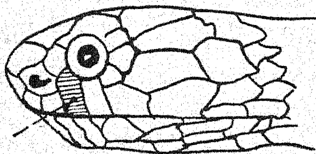
सिर पर बड़े-बड़े स्केल हों
तो
सर्प **विषैला** या **विषहीन** होगा

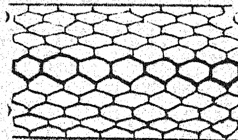


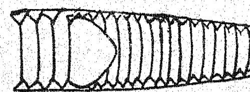
(१) ऊपर के ओठ का तीसरा स्केल आँख व नाक के स्केल को छूता हो
तो
सर्प **विषैला** होगा

(२) पीठ पर बीच के स्केल दूसरों की अपेक्षा बड़े हों और उन पर अर्धगोलाकार धारियाँ हों तथा पूँछ के नीचे के स्केल इकहरे हों
तो
सर्प **विषैला** करैत होगा

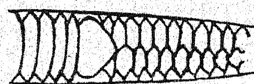
(३) यदि नं. १ और नं. २ के कोई चिह्न न हों
तो
सर्प **विषहीन** होगा







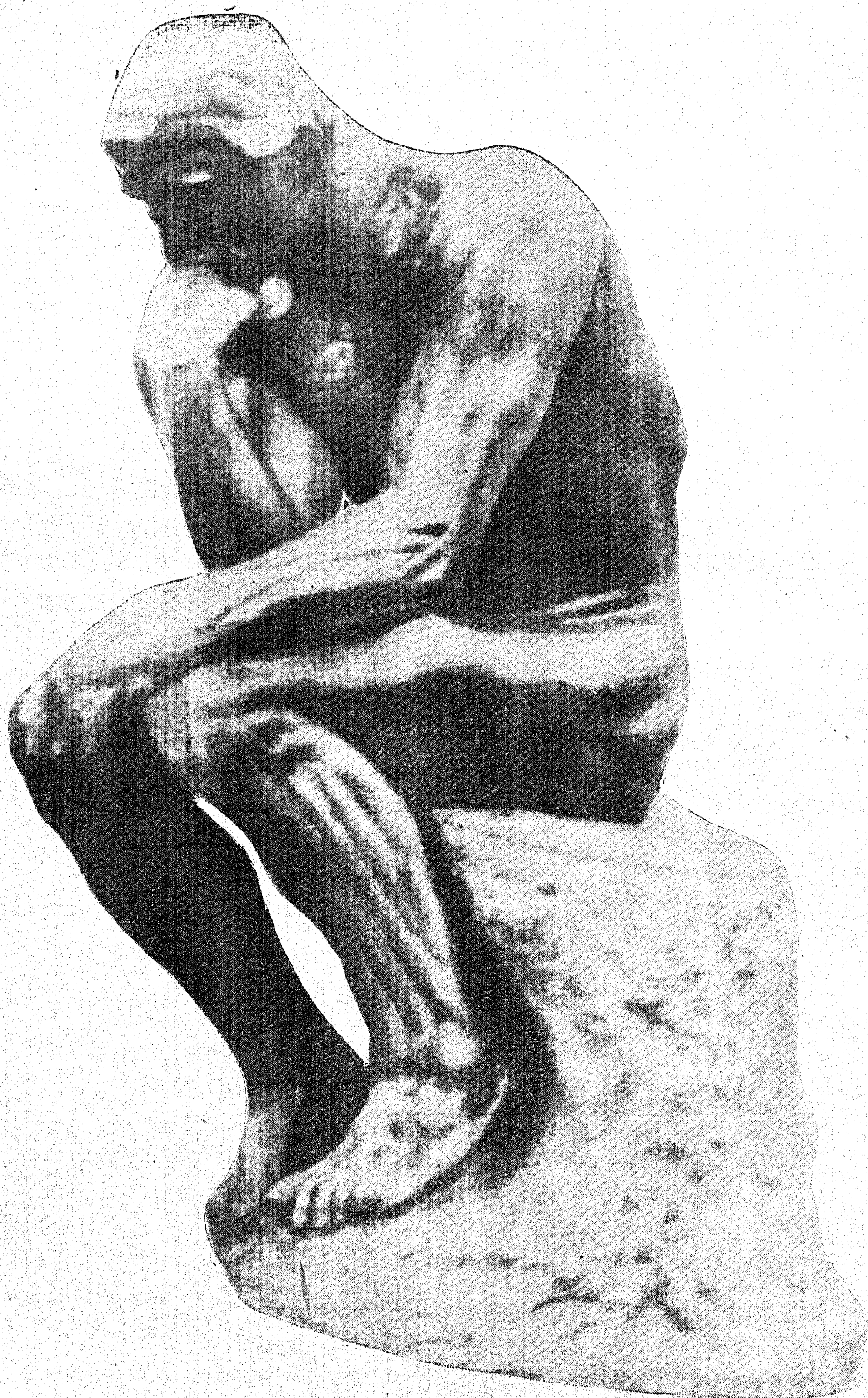
गर्दन और फन पर चश्मे के आकार या 'वी' जैसा चिह्न हो, पेट पर रंगीन धब्बे हों तथा पूँछ के नीचे के स्केल दोहरे हों
तो
सर्प **विषैला** कोबरा या नाग होगा



पेट पर लाल मूँगे के रंग की धारियाँ हों
तो
सर्प **विषैला** कोरल होगा



मनुष्य की कहानी



विचारमग्न मानव

मनुष्य की एक मुख्य विशेषता यही है कि वह एक विचार करनेवाला प्राणी है। [प्रस्तुत चित्र में फ्रेंच मूर्त्तिकार रोदाँ की सुप्रसिद्ध कलाकृति "Thinking Man" (विचारक मानव) प्रदर्शित है]

हमारा मन



हमारे सोचने की क्रिया

बचपन से ही हम यह सोचने के आदी हो गए हैं कि मनुष्य और पशु में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ पशु के अन्दर विचार करने की शक्ति नहीं होती, वहाँ हम विचारशील प्राणी हैं। इसके पहले कि हम इस तथ्य की सत्यता की परीक्षा करें, हमें यह देखना है कि विचार है क्या, इसका मनोवैज्ञानिक आधार और रूप क्या है और प्राणी विचार अथवा चिन्तन कैसे करता है।

विचार-क्रिया मनोवैज्ञानिकों के लिए हमेशा से एक गहन समस्या रही है, और अब तक भी यह प्रश्न हल नहीं हो पाया है। जितने मनोविद् हैं, उतने ही सिद्धान्त हैं। उन सबका यहाँ पर विस्तीर्ण वर्णन कर सकना संभव नहीं, फिर भी मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों का उल्लेख मैं अवश्य करूँगा, तथा अपना विचार भी देने की चेष्टा करूँगा।

पहले के एक लेख में मैं बता चुका हूँ कि मनोवैज्ञानिकों का एक स्कूल अथवा संप्रदाय संयोजनावादी (Sensationist) कहलाता है। इनका ऐसा विश्वास है कि मनुष्य की सारी अनुभूतियों के मूल आधार उसके अन्दर होने वाली संवेदनाएँ हैं। बाहरी जगत् से प्राप्त होनेवाले प्रत्येक उद्दीपन का एक विशेष सांवेदनिक प्रतिवेदन होता है और भिन्न-भिन्न प्रकार के संवेदनों के संयोजन से मानसिक अनुभूति होती है। इस संप्रदाय के मत को आप साधारणतः 'मानसिक रसायन' का नाम दे सकते हैं।

संयोजनावादी अपने परीक्षणों के लिए अन्तर्दर्शन के सिवाय और किसी चीज़ का सहारा नहीं लेता। मानसिक क्रिया को वह अन्तर्दर्शन के द्वारा टुकड़े-टुकड़े करके उसके मूल संवेदनों में परिवर्त्तित करने की चेष्टा करता है, और उसकी खोज कुछ इस प्रकार की होती है—अमुक अनुभूति अमुक-अमुक संवेदनों का मिश्रण है।

अपनी खोजों के सिलसिले में जब ये मनोवैज्ञानिक विचार-क्रिया पर पहुँचे तो उनकी यह धारणा हुई कि आदमी प्रतिरूपों के द्वारा ही विचार करता है। उन्होंने यह समझा कि बाहरी वस्तुओं के मानसिक प्रतिरूप की भिन्न-भिन्न संयोजना का अनुभव ही विचार है। एक बात हमेशा याद रखने की है कि संयोजनावादी मन को सक्रियता प्रदान नहीं करता। उसका विश्वास है कि मन एक अक्रिय वस्तु है, और उसके अन्दर स्वयं कुछ करने की शक्ति नहीं। वह अनुभूतियों को ग्रहण कर सकता है, उनके साथ खिलवाड़ नहीं कर सकता। किसी हद तक इस सिद्धान्त की निरर्थकता मैं पहले भी बता चुका हूँ। लेकिन उस समय इनका ही ज़ोर था।

पेरिस के एक महान् मनोविद् आल्फ्रेड बिने (१८५७—१९११) ने आदमी की तर्कना-शक्ति के संबंध में एक पुस्तक लिखी। उस समय उसने वैज्ञानिक परीक्षणों की उतनी पर्वाह नहीं की थी। लेकिन पीछे इसी संबंध में खोज करते हुए उसने एक महान् तथ्य का आविष्कार किया। पहले उसने भी यही सिद्धान्त निश्चित किया था कि विचार प्रतिरूपों का खेल मात्र है। लेकिन १९०० ई० में (१४ वर्ष और १३ वर्ष उम्र की) अपनी दो लड़कियों पर उसने परीक्षण करना शुरू किया। वह उन्हें छोटे-छोटे प्रश्न देता था, जिनका उत्तर उन्हें देना पड़ता था। उत्तर पा जाने के बाद बिने उनसे इस तरह के प्रश्न करता था—इस सवाल के हल करने में तुमने कैसे सोचा? यह उत्तर तुम्हें किस प्रकार सूझा? यह वस्तु तुम्हें क्योंकर सूझी? क्या तुमने उसे देखा या अपने मन में उसका नाम लिया? कुछ मौक़ों पर तो लड़कियों ने वस्तुओं के प्रतिरूपों का देखना स्वीकार किया, किन्तु अधिकतर उन्होंने यह बताया कि उन्हें किसी प्रकार का प्रतिरूप दिखाई नहीं दिया, प्रश्न मिलते ही उन्हें उत्तर सूझ गया। परिणाम यह हुआ कि लाचार होकर प्रतिरूपों वाले सिद्धान्त

का बिने को त्याग करना पड़ा। बिने ने प्रतिरूप-रहित विचार को नाम देने की कोशिश की और उसे कोई उचित नाम नहीं मिला। उसने कहा—सोचना सोचने ही के ज़रिए चलता है। हम सोचते कैसे हैं? सोचने के द्वारा। यही उसका उत्तर था।

इन पंक्तियों के लेखक ने अपने अनेक लेखों में आदमी को विचार का पुतला साबित किया था, और कभी उसके ध्यान में इस सोचने की क्रिया का विश्लेषण करने की बात नहीं आई थी। जब पहले पहल मनोविज्ञान की कक्षा में विचार-क्रिया का प्रश्न उठा, और लेक्चरर महोदय ने यह बताया कि विचार प्रतिरूप-रहित हो सकते हैं, तो मुझे आश्चर्य-सा हुआ था। मैं स्वयं हमेशा से यही समझता आया हूँ कि आदमी शब्दों की सहायता से ही विचार करता है। मेरा अभी भी यही खयाल है कि कम-से-कम वे लोग जिन्हें गम्भीर चिन्तना करनी पड़ती है, अपने मन में शब्दों अथवा भाषा के ज़रिए ही विचार करते हैं। मैं जब विचार करता हूँ तो, चाहे छोटी से छोटी ही बात क्यों न हो, यही पाता हूँ जैसे मैं स्वयं से बातें कर रहा होऊँ। अगर कोई प्रश्न मुझसे किया जाता है तो उसका जवाब यदि तुरन्त मुझसे न माँगा जाय तो मालूम होता है जैसे उत्तर वाक्यों में मेरे मन में आ जाता है। और अगर तुरन्त बोलना पड़ता है तो ऐसा मालूम होता है कि मेरे बोलने के साथ ही सोचने का काम होता जा रहा है। इसे यों समझा जा सकता है कि चुपचाप सोचने में जहाँ भाषा अन्दर ही अन्दर प्रवाहित हो रही थी, वहाँ अब वह मानों बाहर आकर चल रही है।

जब मैंने गंभीरतापूर्वक इस प्रश्न को अपने हाथों में लिया और परीक्षण करने लगा तो कम-से-कम एक आदमी मुझे ऐसा मिला जिसने बताया कि उसे विचार करने में कभी प्रतिरूप, भाषा अथवा और किसी प्रकार के संकेत की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसने बताया कि जब वह सोचता है, तो ऐसा मालूम होता है मानों सिर्फ़ सोच रहा हो। प्रश्न कीजिए, उत्तर मानों पहले से ही तैयार था, सिर्फ़ कह देने अथवा लिख देने की देर है! कुछ एक पात्र ऐसे भी थे, जिन्होंने विचार में प्रतिरूपों का होना भी बताया और प्रतिरूप-विहीन विचारों का होना भी।

आप स्वयं भी इस प्रकार का एक परीक्षण अपने या अपने मित्रों पर करने की चेष्टा करें। एक पहेली (अगर चित्र-पहेली हो तो और भी अच्छा) ले लें और उसका हल खोजने की कोशिश करें। हल हो जाने पर अपनी अनुभूतियों का अन्तर्दर्शन कीजिए। देखिए कि प्रश्न का हल ढूँढ़ते हुए आपने क्या अनुभव किया था? क्या आपने कुछ इस प्रकार की भाषा में विचार किया था—"प्रश्न तो सीधा-सा है, लेकिन इसका उत्तर क्या होगा? यह रेखा जो बाईं ओर से आकर दाहिनी ओर निकल गई है उसका मतलब क्या है? और फिर ऊपर से और एक रेखा आकर किसे काट रही है? अच्छा, ठीक तो है। बस, इसी ओर से होकर चलने से ठीक स्थान पर पहुँचा जा सकता है।" आदि। अथवा आपके मन की आँखों के सामने पहेली के चित्र घूम रहे थे, और भिन्न-भिन्न रेखाओं के इर्द-गिर्द घूमती हुई पेन्सिल की तस्वीर दिखाई दे रही थी; अथवा पहेली आपके सामने थी, आप के अन्दर जो अनुभव हो रहे थे, उनके लिए आप कोई नाम नहीं दे सकते और उत्तर स्वयं ही सूझता-सा जान पड़ा!

मार्बे नामक एक जर्मन मनोविद्याविशारद विचार-निर्द्धारण पर खोज कर रहा था। किसी बात की सत्यता अथवा असत्यता का निर्णय करना ही, उसके मत से, विचार-निर्द्धारण है। उसने अपने पात्रों के सामने अत्यंत सरल प्रश्न रखे, और उन पर उनका निर्णय पूछा। प्रश्न ऐसे होते थे, जिनका उत्तर अत्यंत आसानी से दिया जा सकता था। उत्तर पा जाने के बाद अन्तर्दर्शन के द्वारा उनकी मानसिक अनुभूति का वर्णन कराया जाता था। अधिकतर यही पाया गया कि इन अनुभूतियों के संबंध में पात्रों के पास कहने को कुछ नहीं था, मानों उत्तर आप-से आप उनके मन में आ जाते थे।

इसी सिलसिले में एक और दिलचस्प बात का पता लगा। अनेक अवसरों पर पात्रों ने उत्तर देने के पहले एक प्रकार की झिझक का होना बताया। उन्हें अपने उत्तर के समीप पहुँचने में एक प्रकार का सन्देह-सा होता मालूम हुआ, एक प्रकार का अविश्वास-सा उन्होंने अनुभव किया। झिझक, सन्देह, अविश्वास या विश्वास आदि के वर्तमान होने को उक्त पात्रों ने उस समय की मनोवैज्ञानिक परिभाषा के शब्दों में वर्णन करने की कोशिश की। उन्होंने उन्हें प्रतिरूप का नाम देना चाहा, लेकिन किसी प्रकार भी अपने अनुभवों को प्रतिरूप कह सकना उनके लिए असंभव मालूम हुआ। मार्बे ने देखा कि वह एक ऐसे तथ्य पर पहुँचा है जो उस समय के मनोविज्ञान में एक नई चीज़ थी, और उसने इसका नाम दिया, 'Bewusstseinslage', अथवा 'चेतना की परत',

जिसका किसी प्रकार 'चैतन्य प्रतिन्यास' अनुवाद किया जा सकता है।

आख़ (जन्म—१८७१) नामक एक दूसरे विद्वान् ने सहज प्रतिक्रिया पर परीक्षण किया, और अन्तर्दर्शन के ज़रिए अनुभूतियों के विश्लेषण की चेष्टा की। आपने दौड़ की प्रतियोगिता तो अवश्य देखी होगी। आपने ख़याल किया होगा कि दौड़ शुरू होने के पहले प्रत्येक दौड़नेवाला एक पंक्ति में खड़ा होता है। एक आदमी पहले 'रेडी' (अथवा तैयार) बोलता है, और सभी सावधान हो जाते हैं। एक, दो, तीन कहते ही दौड़ शुरू हो जाती है। बहुत जगहों पर 'रेडी' कहने के बाद पिस्तौल दागी जाती है। पिस्तौल की आवाज़ होते ही दौड़नेवाले दौड़ शुरू कर देते हैं।

आख़ और एक और मनोविज्ञ—वाट—ने इस प्रकार की दौड़ में दौड़नेवालों से यह प्रश्न किया कि दौड़ शुरू करने में निश्चय करने की क्रिया कब होती है? क्या पिस्तौल दगने पर वे सोचते हैं कि अब दौड़ना चाहिए, और यह सोचने के बाद वे दौड़ना आरम्भ करते हैं?

उनसे प्राप्त सामग्री से यह नतीजा निकला कि दौड़ने की तैयारी, दौड़ने का निश्चय तो वास्तव में पिस्तौल दगने के पहले ही हो जाता है। पिस्तौल दगने पर और कुछ सोचना-विचारना नहीं रह जाता, आप से आप दौड़ने की क्रिया आरंभ हो जाती है। अगर कोई दौड़नेवाला संकेत मिलने के बाद निश्चय करने लगे तो वह फिसड्डी ही रह सकता है। संकेत मिलने के पहले तक ही निश्चय आदि सब कर लिये जाते हैं, संकेत मिलने के पश्चात् और कोई मानसिक क्रिया करने को नहीं रह जाती।

इस प्रकार के अन्वेषणों के ज़रिए किसी काम के पूर्व के समय में ही तैयारी के महत्व का पता लगा। पहले लोगों का ऐसा विश्वास था कि कोई भी काम करने के लिए जब उद्दीपन मिलता है तो उसके बाद ही काम के संबंध में आदमी अपना निश्चय और धारणा बनाता है। लेकिन इस नई खोज ने इस सिद्धान्त को संपूर्णतः उलट दिया। इस प्रथम तैयारी को Einstellung का नाम दिया गया। कुल्पे की गोष्ठी के मनोविदों की यह सबसे बड़ी देन है, और इसने प्राणियों के आचार अथवा चेष्टा को समझने में अत्यधिक सहायता दी।

विचार का सबसे सरल रूप है सामने पड़ी हुई वस्तु का अपने अन्दर अनुभव करना। इसका क्लिष्ट रूप है, जो चीज़ सामने नहीं, ज्ञानेन्द्रियों के परे है, उसकी चिन्ता करना। हम अपने प्रत्यक्ष दर्शनवाले अध्याय में प्रत्यक्ष दर्शन संबंधी विचार के विषय में कुछ बातें बता चुके हैं। अब हम अपने सोचने को ध्यान में रखते हुए प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष वस्तुओं के अनुभव को तौलने की चेष्टा करें।

हमारे सामने टेबल पर एक ग्लास शर्बत पड़ी है। हमारे चक्षु-पटल पर ग्लास के द्वारा प्रकाश में होते हुए प्रकंपन पड़ते हैं, जिनका सीधा प्रभाव हमारी दृष्टि-नाड़ियों पर होता है। दृष्टि-नाड़ियाँ किसी विशेष प्रकार से इसे मस्तिष्क के दृष्टि-केन्द्र में पहुँचा देती हैं और हमें ग्लास का बोध होता है। हम कहते हैं, हम एक ग्लास देख रहे हैं, जिसके अन्दर लाल-लाल-सी कोई तरल वस्तु है। नासा-रंध्रों के ज़रिए शर्बत की सुगंध हमारे मस्तिष्क में पहुँचती है। हमारे पहले के अनुभव हमें बताते हैं कि उक्त ग्लास के अन्दर पड़ी हुई चीज़ शर्बत है। अगर हम शर्बत को छूकर देखें तो हमारी स्पर्शेन्द्रियाँ यह भी बतलाएँगी कि यह एक शीतल पदार्थ है।

इस प्रकार हमारी ज्ञानेन्द्रियों के सीधे संसर्ग में आने के कारण एक बाहरी वस्तु हमारे मस्तिष्क के ज्ञान-केन्द्रों को उद्दीप्त करती है, और हमारे अन्दर प्रस्तुत मन नामक कोई चीज़ उसे एक विशेष पदार्थ समझ लेती है, अर्थात् उक्त अनुभूति को एक अर्थ प्राप्त हो जाता है। इस अर्थ को देनेवाला है हमारा मन, जिसके अन्दर प्राचीन अनुभव भरे पड़े हैं।

थोड़ी देर के लिए मान लीजिए कि आपने अपने जीवन में कभी ग्लास देखा नहीं है, और न शर्बत देखी है या पी है। तो सामने शर्बत का ग्लास देखकर यद्यपि आपके अन्दर वे सारी अनुभूतियाँ होंगी जो आपकी ज्ञानेन्द्रियाँ आपके भीतर पैदा कर सकती हैं, फिर भी आप उसे कोई नाम नहीं दे सकते, उसका अर्थ नहीं लगा सकते। सीधी भाषा में, आप यह नहीं समझ सकते कि यह कौन-सी चीज़ है!

एक कहानी है कि एक बहुत बड़ा ज्योतिषी किसी राजा के दरबार में पहुँचा। राजा ने अपनी मुट्ठी में एक सोने की अँगूठी बन्द कर ज्योतिषी से यह बताने को कहा कि यह क्या चीज़ है। ज्योतिषी ने अपनी सारी विद्या लगा दी और मुट्ठी के अन्दर की चीज़ का इस प्रकार वर्णन किया—"गोल-गोल है, किसी क़ीमती धातु की है, उसमें एक पत्थर भी है।" राजा ने पूछा—"लेकिन यह है कौन-सी चीज़?"

ज्योतिषी ने तपाक से कहा—"पहिया!"

ठीक जो भूल ज्योतिषी ने अँगूठी को पहिया बताकर की, वही भूल आपका मन भी कर सकता है, अगर उसे किसी वस्तु का पूर्व-ज्ञान न हो।

यहाँ पहुँचने पर संयोजनावादी कह सकता है कि आखिर हम भी संयोजना के उसके सिद्धान्त पर ही पहुँचे। कुछ हद तक बात ठीक भी है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि किसी प्रकार के अनुभव को उसके संपूर्ण अर्थ में समझ सकने के लिए अपने पहले के अनुभव से उसे संयोजित करना ही पड़ेगा। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या यह संयोजन-क्रिया प्रतिरूपों के द्वारा संपादित होती है? अथवा और भी कोई उपाय है, जो इस क्रिया को सहायता तो देता है, लेकिन जिसके लिए संयोजनावादी मनोवैज्ञानिकों के पास कोई नाम नहीं।

ऊपर हम बता चुके हैं कि यद्यपि बहुत-से विचार प्रतिरूपों की सहायता से भी होते हैं, लेकिन ऐसे अवसरों की भी कमी नहीं जबकि आप किसी प्रकार के प्रतिरूप का विद्यमान होना नहीं अनुभव करते। वैसी अवस्था में संयोजना और विचार प्रतिरूप-रहित ही होते हैं।

मैंने ऊपर कहा है कि संयोजनावादी मनोविज्ञ मन के अन्दर किसी प्रकार की क्रियात्मकता का होना नहीं मानते, फिर भी अपने पात्रों को एकाग्रचित्त होकर अन्तर्दर्शन करने का आदेश देते हैं। चेष्टावादी (आचरणवादी) मनोवैज्ञानिक भी मन की क्रियाशीलता के सिद्धान्त को बिल्कुल नहीं मानते। उनका कहना है कि मन सोच नहीं सकता, कल्पना नहीं कर सकता, इच्छा नहीं कर सकता, और न निश्चय ही कर सकता है। वह एक निष्क्रिय पदार्थ है और उसका सारा अस्तित्व केवल उद्दीपन और प्रतिवेदन (प्रतिक्रिया) पर निर्भर है। अगर आपकी उँगली में सुई चुभोई जाय तो उसका संवेदन एक विशेष नाड़ी-मार्ग से मस्तिष्क में पहुँचेगा और उसकी प्रतिक्रिया होगी आपकी उँगली का उद्दीपन के स्थान से अलग खिंच जाना। चेष्टावादी कभी यह नहीं कहेगा कि सुई चुभ जाने का कष्ट आपने अनुभव किया और आपने चाहकर उँगली हटा ली। लेकिन ऐसा भी हो सकता है कि उँगली में सुई गड़ी भी और आपकी उँगली नहीं हटी। चेष्टावादी कहेगा, मस्तिष्क से बाहर की ओर प्रवाहित होनेवाली प्रतिक्रिया का नाड़ी-मार्ग में कहीं पर अवरोध हो गया, जिसके कारण होनेवाली प्रतिक्रिया न हो सकी। यानी आप किसी प्रकार सोचने को स्वाधीन नहीं—जो कुछ होता है, आपकी नाड़ियाँ करती हैं। 'आप' नाम की कोई चीज़ ही नहीं।

एक पिंजड़े में एक बिल्ली को बंद कर दीजिए। पिंजड़े में एक खटका ऐसा लगा दीजिए, जिसे अगर बिल्ली अपने पंजे से मारे तो पिंजड़े का दरवाज़ा खुल जाय। बाहर कुछ खाने को रख दीजिए ताकि बिल्ली बाहर आने की चेष्टा करे। आप पाइएगा कि पहले बिल्ली अपने मुँह और पंजों से पिंजड़े को जहाँ-तहाँ मारती है। हो सकता है कि कुछ देर तक उसके प्रयत्न विफल जाँय। अचानक उसका पंजा खटके पर पड़ जाता है और पिंजड़े का दरवाज़ा खुल पड़ता है। मान लीजिए कि बीस बार की चेष्टा और विफलता के बाद बिल्ली को सफलता मिली है। दूसरी बार बिल्ली को फिर उसी प्रकार बंद कर दीजिए। हो सकता है कि इस बेर दस बार व्यर्थ प्रयत्न करने के बाद ठीक स्थान पर पंजा मारकर बिल्ली दरवाज़ा खोल लेती है। तीसरी बार बिल्ली दो-एक बार इधर-उधर करने के बाद ही दरवाज़ा खोल लेती है, जिसके बाद वह बराबर बंद होते ही ठीक स्थान पर पहुँच कर पंजा मारती है।

हम-आप कह सकते हैं कि बिल्ली ने खटके और दरवाज़े के खुलने का संबंध समझ लिया है। इसलिए यद्यपि जब तक वह इस संबंध को नहीं जानती थी बेकार इधर से उधर पंजे मारती भटकती थी, पर अब वह तुरन्त दरवाज़ा खोल लेती है। यानी अब वह कुछ इस प्रकार सोच सकती है—"इस पिंजड़े में मैं बंद हूँ, बाहर खाना रखा है—मुझे भूख भी लगी है—बाहर निकल सकती तो ठीक होता लेकिन निकलूँ कैसे?—ठीक तो है, वह दरवाज़ा है—पहले हमने इधर-उधर पंजा मारा था तो नहीं खुला था—उस खटके पर पंजा मारने से दरवाज़ा खुल गया था—हाँ, उस पर ही पंजा मार दूँ।"

लेकिन चेष्टावादी इसे व्यर्थ की बकवास कहेगा। उसका क़हना यह होगा कि खटके पर पंजा मारना बिल्ली के पूरे वातावरण-रूपी उद्दीपन की प्रतिक्रिया है और जिस प्रतिक्रिया ने उसकी शारीरिक क्षुधा को सन्तुष्ट किया है, बिल्ली की कार्य-नाड़ियाँ और स्नायु वही प्रतिक्रिया दुहराएँगे।

ऊपर से देखने पर यह सिद्धान्त उतना ग़लत नहीं मालूम पड़ता। लेकिन आप उनसे यह पूछिए कि सन्तोष पाने की शारीरिक क्रिया और पंजा मारने की प्रतिक्रिया का संबंध किस प्रकार जुड़ता है। अगर यह बात ठीक हो कि एक ही प्रकार के उद्दीपन और प्रतिवेदन को बार-बार दुहराया जाय तो एक विशेष नाड़ी-मार्ग का निर्माण हो जाता है और उस कार्य के करने में आसानी होती है

(इसे हम अभ्यास कहते हैं), तो बिल्ली ने भूल ही अधिक बार की थी और उसे भूल करने का अभ्यास पड़ना चाहिए था ! फिर एक बार ठीक स्थान पा जाने पर अनेकों बार की दुहराई प्रतिक्रिया एकाएक बन्द क्यों हो जाती है ? चेष्टावादी के पास इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं।

लेकिन इससे यह न समझ लेना चाहिए कि हमने बिल्ली के सोचने के जिस ढंग की कल्पना ऊपर की है, वह बिल्कुल ठीक है। बिल्ली ने हमसे तो कभी नहीं कहा कि वह इस प्रकार सोचती है। हाँ, उसके आचरण को देखा जाय तो इतनी बात माननी पड़ती है कि वह भी किसी-न-किसी प्रकार सोचती है अवश्य । हम उसके विचारने को 'प्रत्यक्षदर्शी विचार' कह सकते हैं। उसका विचार यों चलने के बजाय कि "पहले पंजा मारा था, दरवाज़ा खुला, अब पंजा मारूँ तो फिर दरवाज़ा खुलेगा", यूँ चलेगा— "पंजे का मारना और दरवाज़ा खुलना ।" उसकी चिन्ता में 'चूँकि' और 'इसलिए' की गुंजायश नहीं। दो काम आपस में एक-दूसरे से संबंधित हैं, और वह सिर्फ़ इस संबंध को समझ सकती है। कारण आते ही कार्य कर डालना ही उसके विचार का अन्तिम कार्य है।

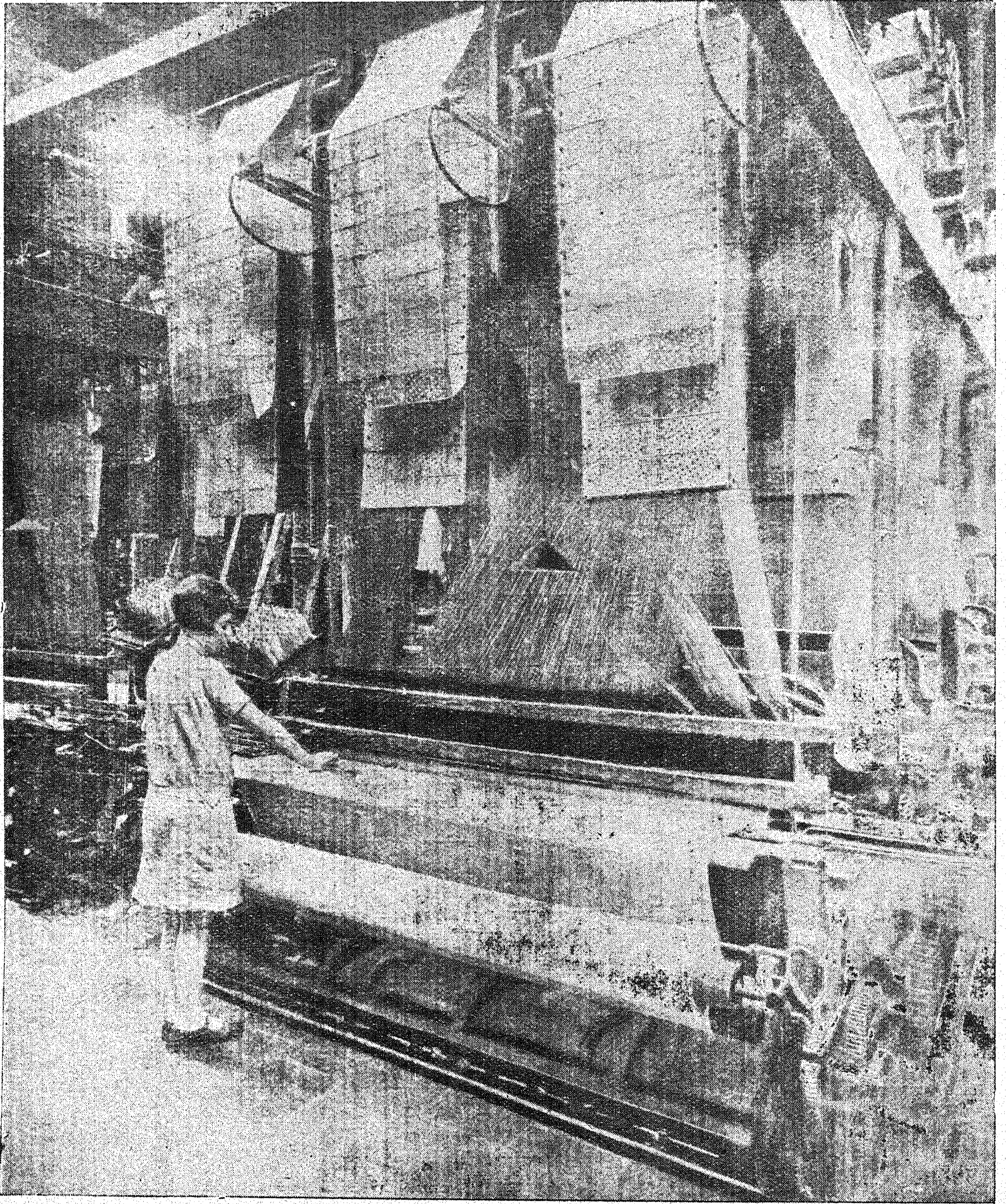
जानवरों को छोड़कर आप असभ्य मनुष्यों और बच्चों पर आइए तो वहाँ भी यही बात मिलेगी। हमारे आठ मास के शिशु किरणकुमार ने कल खामख्वाह दीए की लौ पर उँगली लगा दी, और जब उँगली जो जली तो आपने रोना शुरू किया। अब फिर जो उसकी उँगली पकड़कर दीए की ओर ले जाई जाती है तो चट से हटा लेता है।

हम-आप शायद कुछ इस तरह सोचें—"अभी जो मैंने दीए की लौ पर उँगली दी तो उँगली जल गई। दीए की लौ उँगली को जला देती है। इसलिए उसे उँगली से छूना खतरनाक है।" लेकिन शायद किरण ऐसा नहीं सोचता। दीए का देखना और उँगली हटा लेना, ये दोनों कार्य उसके मन में एक साथ संयोजित हो गए हैं। दीए के देखने के बाद इससे उँगली जल जाती है, यह अवस्था उसके दिमाग़ में नहीं आती। वह तो सिर्फ़ दीया देखता है और उँगली हटा लेता है।

मनुष्य ज्ञान के जितने ही ऊँचे स्तर पर चढ़ता जाता है, उतनी ही उसके सोचने की क्रिया मिश्रित एवं क्लिष्ट होती जाती है। मानसिक रसायनवाले मनोविद् चाहे जितना ही कहें कि हमारा सोचना सिर्फ़ कुछ प्रतिरूपों की संयोजना के द्वारा चलता है, हमें तो यह मानना ही पडता है कि वही संयोजनावादी जब अपना सिद्धान्त बनाने के लिए गंभीर चिन्ता करता है, अथवा अपनी पुस्तक लिखने लगता है तो सिर्फ़ कुछ प्रतिरूपों के सरल संयोग से ही काम नहीं लेता। उसे भी अपने मन को सक्रिय बनाना पड़ता है। अर्थात् जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान हमें सीधे अपनी ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा नहीं होता, उन अप्रत्यक्ष चीज़ों के संबंध में, चाहे फिर वे पदार्थ हों या अपदार्थ, हम सक्रिय रूप में विचार करते हैं। हम तरह-तरह की ऐसी बातें भी गढ़ लेते हैं, जिनका अस्तित्व प्रकृति में कहीं नहीं। आप कह सकते हैं, सरल-सरल भावों के मिश्रण से हम क्लिष्ट भावों का निर्माण कर लेते हैं। इसके साथ ही यह स्पष्ट हो जाता है कि विचार करने के लिए कुछ हद तक हम स्वाधीन हैं।

अगर हम एक क़दम बढ़कर फ्रॉयड के मनोविश्लेषण के सिद्धान्त पर अपनी इस समस्या को तौलें तो हमें पता चलेगा कि विचार करने की हमारी स्वाधीनता कुछ और भी कम हो जाती है, और कुछ ऐसी चीज़ें भी हैं, जिनका हमारे विचारों पर बहुत काफ़ी प्रभाव है। उनमें एक सबसे ज़बर्दस्त चीज़ है हमारा अचेतन।

फ्रॉयड के मत से हमारा मन कई भागों में विभक्त किया जा सकता है। इनमें एक भाग का नाम फ्रॉयड ने 'अचेतन' रखा है। यह अचेतन हमारे सम्पूर्ण मन के दो-तिहाई से अधिक हिस्से को घेरे हुए है। हमारे मन का चेतन हिस्सा हमारे मन का शायद एक-चौथाई ही है। जो कुछ हमारी चेतना में है, उससे कहीं बहुत अधिक हमारे उस अचेतन में पड़ा हुआ है, जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान हमें किसी तरह नहीं हो सकता । यह अचेतन अपने दामन में छिपी हुई चीज़ों को तरह-तरह के छद्मवेशों से प्रकट किया करता है। सपने के रूप में, पागलपन के रूप में, बोलचाल में, भूलों के रूप में अथवा और दूसरी तरह के संकेतों और प्रतीकों के द्वारा इसके अन्दर के भाव बाहर आते हैं और हमारे चेतन आचरण पर हमारे अचेतन का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। आप ऐसे उदाहरण अपने दैनिक जीवन में सैकड़ों पा सकते हैं। हमारे सपनों में चलते विचार, बुखार में सन्निपात के समय के हमारे विचार, पागल के विचार आदि यही सिद्ध करते हैं कि हमारी चेतन विचार-क्रिया पर हमारे अचेतन का प्रभाव कुछ कम नहीं। लेकिन अभी भी सोचने की क्रिया के संबंध में सभी मनोविज्ञ एकमत नहीं हो सके हैं, और इस क्षेत्र में नई खोजों की काफ़ी गुंजायश है । समय और अन्वेषण ही इस प्रश्न का वास्तविक उत्तर दे सकेंगे ।



आधुनिक पुतलीघर का करघा या बुनने का यंत्र

इस प्रकार की बुनने की सैकड़ों पेचीदा मशीनें मिलों में लगी रहती हैं और उनपर तेज़ी से सैकड़ों फ़ीट लंबा कपड़े का थान बुनता हुआ बेलनों पर लिपटता जाता है। इन मशीनों पर जिस-जिस डिज़ाइन का ताना-बाना तैयार करके लगा दिया जाता है, उसी डिज़ाइन का कपड़ा बनता चला जाता है।



चरखे और करघे से पुतलीघर तक

सूती वस्त्र-निर्माण की कहानी

कपड़ा बुनने की कला कदाचित् उतनी ही प्राचीन है, जितनी मानवीय सभ्यता। सभ्यता के विकास के प्रारम्भिक दिनों में ही विभिन्न देशों के लोगों ने करघे पर कपड़ा बुनना सीख लिया था। सुन्दर आकृति के वस्त्रों के निर्माण में उन्होंने सौंदर्य और कला का प्रदर्शन प्रचुर मात्रा में किया था। उस सुदूर अतीत से लेकर आज तक सामाजिक बाह्याडंबर का प्रदर्शन वस्त्रों की श्रेष्ठता द्वारा ही किया गया है। मिस्र के स्तूपों में से प्राप्त मोमियाइयों (सुरक्षित शवों) पर लिपटे हुए वस्त्रों को देखकर हम आश्चर्य-चकित रह जाते हैं कि आज से ३००० वर्ष पूर्व का मिस्र-निवासी कपड़ा बुनने की कला में कितना सिद्धहस्त था! इन परिधानों में सन के रेशे प्रचुरता से काम में लाए गए थे। किन्तु ये इतनी अच्छी तरह से बुने गए थे कि ३००० वर्ष उपरान्त भी वे पहले जैसे ही मुलायम और सुन्दर बने रहे, उनका रंग और उनकी चमक इतने दिनों उपरान्त भी जैसी की तैसी बनी रही! विशेषज्ञों की धारणा है कि इस यंत्र-युग के बावजूद भी आधुनिक काल के बुने हुए कपड़े कला की दृष्टि से प्राचीन मिस्र के कपड़ों की तुलना में टिक नहीं सकते!

आइए, देखें किस प्रकार एक के उपरान्त दूसरे आविष्कारकों ने चरखे और करघे को शनैः-शनैः सुधारकर उन्हें दानवाकार मशीन का रूप दे डाला। इन मशीनों के विकासक्रम को समझने के पूर्व हमें चरखे और करघे का ही कुछ अध्ययन करना होगा। भला कौन भारतवासी ऐसा होगा, जिसके लिए आज दिन 'चरखा' एक अपरिचित वस्तु हो! जब से गांधीजी ने खादी का आंदोलन उठाया है और हाथ की कताई-बुनाई पर महत्त्व दिया है, तब से 'चरखा' मानों इस देश की राष्ट्रीयता का प्रतीक बन गया है—यहाँ तक कि हमारे राष्ट्रीय तिरंगे झंडे पर भी उसने स्थान पा लिया है, उस पर उसकी तस्वीर बनी रहती है। चरखा लकड़ी का एक अत्यंत सरल यंत्र होता है, जिसमें एक ओर एक तकुआ रहता है, जो एक घूमनेवाली डोरी से एक पहिए से संबंधित रहता है। जब पहिया ज़ोर से घुमाया जाता है तो तकुआ भी घूमने लगता है और तकुए के कई चक्कर लग जाते हैं। इस तकुए पर रुई की पूनी का सिरा लगाकर दूसरे हाथ से हल्के-हल्के उसे खींचते हुए सूत काता जाता है। इसका सिद्धान्त वही है, जो तकली का है।



खेतों में कपास की बिनाई का दृश्य। इसी कपास से प्राप्त होनेवाली रुई पर सूती वस्त्र-निर्माण निर्भर है।

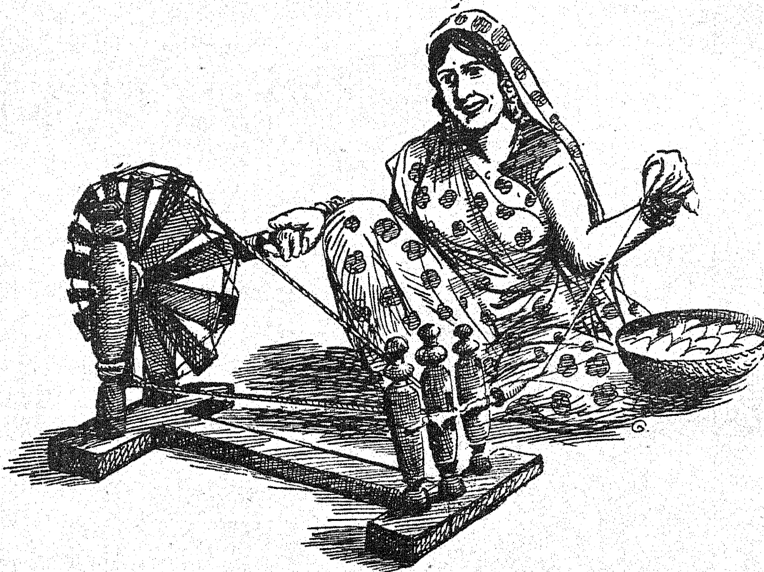
बुनने का सबसे सरल यंत्र हमारे जुलाहों का करघा है। वैसे तो

पहनने के लिए परिधान सलाइयों की सहायता से सूत में फन्दे डालकर भी बनाए जा सकते हैं। क्रोशिया या सलाइयों की सहायता से बनिआइनें और स्वेटर आदि बिने ही जाते हैं। किन्तु कपड़े के बुनने में एक नियमित रूप से आड़े और खड़े सूत क्रम से एक-दूसरे के नीचे बिठाए जाते हैं। लम्बाई के सूत 'ताना' कहलाते हैं और आड़े सूत 'बाना'। देहात का एक साधारण बढ़ई भी लकड़ी के टुकड़ों से आसानी से करघा तैयार कर लेता है। ताने के सूत एक क़तार में सजा दिए जाते हैं—सामने के बेलन में ये सूत व्यवस्थापूर्वक लपेट दिये जाते हैं। करघे के चौखटे में ऊपर दो डण्डे लगे रहते हैं—ये डण्डे नीचे के दो डण्डों से सम्बद्ध होते हैं, ताकि पैरों से उस 'ट्रेडिल' को दबाने पर ये डण्डे बारी-बारी से उपर उठ सकें। ऊपर-नीचे के डण्डों में मज़बूत धागे बँधे रहते हैं। दोनों जोड़े डण्डों के धागों की कुल संख्या ताना के धागों की संख्या के बराबर होती है। प्रत्येक धागे में एक नन्हा-सा गोल फन्दा लगा होता है, जिसमें से होकर ताने के धागे गुज़रते हैं। इस तरह के किनारे से ताने का पहला धागा डण्डे के एक जोड़े के पहले धागे के फन्दे में से गुज़रता है तो ताने का दूसरा धागा दूसरे जोड़े डण्डे के पहले धागे में से, फिर तीसरा धागा पहले जोड़े के धागे के फन्दे में से। इस प्रकार ताने के आधे धागे एक जोड़े डण्डे से सम्बद्ध हो जाते हैं और आधे दूसरे जोड़े डण्डे से। ट्रेडिल दबाने पर ताने के आधे धागे नीचे को हो जाते हैं और आधे ऊपर को उठ जाते हैं। अब इन दोनों के बीच से ढरकी को गुज़ारते हुए दाहिने से बायीं ओर को फेंकते हैं। इस प्रकार वह बाने का धागा बिठा देती है। ट्रेडिल को फिर दबाने पर ताने के आधे धागे जो पहले नीचे थे, ऊपर हो जाते हैं और ऊपरवाले नीचे चले जाते हैं। अब ढरकी को बायें से दाहिनी ओर को फेंका जाता है और बाने का धागा ताने के साथ फिर बुन जाता है।



हमारे देश में सूत कातने का सबसे सरल यंत्र—तकली

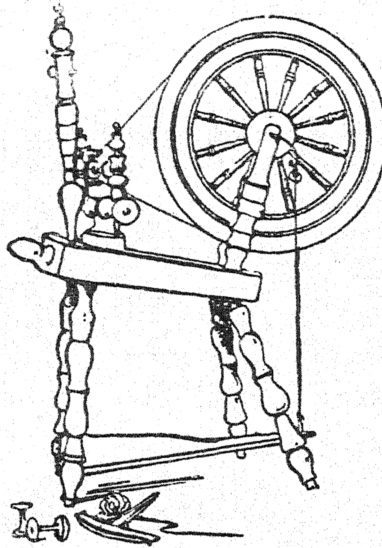
इस प्रकार के करघे हमारे देहातों में खूब काम में लाए जाते हैं, किन्तु बड़े पैमाने पर कपड़ा तैयार करने के लिए केवल करघे से ही काम नहीं चल सकता। उत्पादन बढ़ाने के लिए मशीनों का उपयोग अनिवार्य था। इस क्षेत्र में सर्वप्रथम आविष्कार करने का श्रेय इँगलैंड के लंकाशायर के एक अनपढ़ व्यक्ति जेम्स हारग्रीव्ज़ को प्राप्त है। हारग्रीव्ज़ का जन्म एक ग़रीब घराने में १७४५ ई० में हुआ था। बड़ा होने पर यह भी अपने पैतृक व्यवसाय जुलाहे के काम में लग गया। घर पर उसकी स्त्री चरखे पर सूत कातती और उसे लेकर वह कारखाने में बुननेवालों के पास पहुँचा आता। ऐसा कहा जाता है कि एक दिन जब वह कारखाने जाने के लिए तैयार हुआ, तो उसने



भारतीय चरखा

जिस पर मिलों के आविर्भाव के पहले हमारे वस्त्र-उत्पादन की सारी नींव प्रस्थापित थी।

देखा कि अभी पर्याप्त मात्रा में सूत तैयार ही नहीं हुआ। क्रोध में आकर उसने चरखे को पैर से ठोकर लगाई। उसने आश्चर्य-भरी दृष्टि से देखा कि लुढ़क जाने पर भी चरखे का पहिया घूम रहा था और तकुए पर सूत कतता चला जा रहा था। अचानक उसे सूझा कि एक ही पहिए के घुमाने से यदि कई तकुए चलाए जा सकें तो निस्संदेह सूत की निकासी कई गुना बढ़ जायगी। अतएव पड़ोसियों की दृष्टि बचाकर उसने छिप छिपकर नए ढंग के सूत कातने की मशीन कुछ ही दिनों में तैयार कर ली। इस मशीन में एक ही पहिए के घूमने से आठ तकुओं पर सूत लिपटते थे। हारग्रीव्ज़ और उसकी पत्नी ने अपने इस नए यंत्र 'स्पिनिंग जेनी' के बारे में किसी से एक शब्द भी न कहा। चुपके-चुपके सूत कातकर ये उनसे स्वयं ही कपड़ा बुन लेते या जुलाहों के पास उसे बेच आते। पड़ोसियों ने सोचा कि हारग्रीव्ज़ दम्पति अकेले इतनी अधिक मात्रा में सूत तैयार कर लेते हैं, तो इसके पीछे अवश्य कोई रहस्य होगा। उनकी बढ़ती हुई आय को देखकर पास-पड़ोस के जुलाहे ईर्ष्या से जलने लगे। यह ईर्ष्या यहाँ तक बढ़ी कि उन्होंने क़स्बे के अन्य निवासियों को भी उन-के खिलाफ़ भड़काया। आखिर एक दिन आस-पास के लगभग ५,००० व्यक्तियों ने हारग्रीव्ज़ के घर पर धावा बोल दिया और उसकी 'स्पिनिंग जेनी' की धज्जियाँ उड़ा दीं, साथ ही उन लोगों ने उस बेचारे के घर का अन्य सामान भी तोड़-फोड़ डाला।



इंगलैण्ड का पुराना चरखा
बड़ी मशीनों के आविर्भाव से पहले वहाँ इसी से सूत काता जाता था।

पड़ोसियों की कोप-दृष्टि से बचने के लिए हारग्रीव्ज़ दम्पति को क़स्बा छोड़कर नाटिंघम भागना पड़ा। नाटिंघम में हारग्रीव्ज़ टामस जेम्स नामक एक व्यक्ति के सम्पर्क में आया। जेम्स के पास कुछ थोड़ी पूँजी भी थी। इसी पूँजी से दोनों ने मिलकर 'स्पिनिंग जेनी' की मशीन तैयार करनी शुरू की और धीरे-धीरे सभी जगह सूत कातने के लिए इस मशीन का प्रयोग लोगों ने करना शुरू कर दिया।

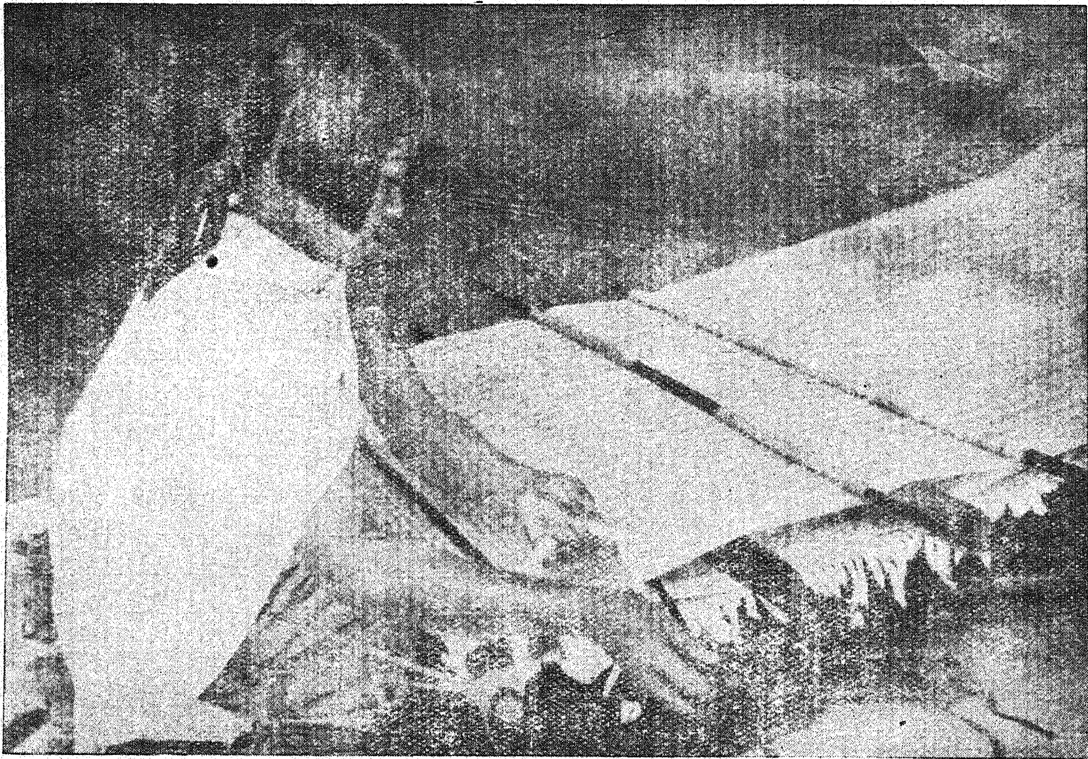
सूत कातने की मशीन के विकास में सर रिचार्ड आर्क-राइट का नाम भी विशेष महत्व रखता है। आर्कराइट को तो हारग्रीव्ज़ से भी अधिक यातना अपने आविष्कार के कारण भोगनी पड़ी थी। उसका जन्म प्रेस्टन नगर में १७३२ ई० में एक ग़रीब घर में हुआ था। अपने पिता की वह तेरहवीं सन्तान था, अतः आर्कराइट तथा उसके भाई-बहनों की शिक्षा-दीक्षा का कोई समुचित प्रबन्ध न हो सका था। कुमारावस्था में ही अपनी जीविका के लिए उसे नाई का पेशा अपनाना पड़ा। लङ्काशायर में घर-घर वह हजामत बनाने के लिए फेरी लगाता। धीरे-धीरे लङ्काशायर के जुलाहों के करघे से वह भली भाँति परिचित हो गया। उन दिनों रुई से कते हुए सूत इतने मजबूत नहीं हुआ करते थे कि उनसे ताने का काम लिया जा सके, अतः ताना डालने के लिए 'लिनन' का सूत काम में लाया जाता। किन्तु 'लिनन' आयरलैण्ड से मँगाना पड़ता—अतः यह महँगा तो पड़ता ही, साथ ही यातायात के साधनों की कमी के कारण प्रायः उसके पहुँचने में देर भी हो जाती। ऐसी दशा में लङ्काशायर के कारीगर बेकार बैठे रहते। अक्सर आर्कराइट जब फेरी पर जाता तो लोग उसे वापस लौटा देते कि खाने के लिए पैसे नहीं है तो बाल कटाने के लिए कौन ख़र्च करेगा! आर्कराइट ने कुछ तो अपने स्वार्थ के लिए कि उसका काम न रुकने पाए, और कुछ इस उद्देश्य से कि वह अपने पड़ोसियों की आर्थिक स्थिति को सुधार सके, सोचना शुरू किया कि किस प्रकार सूत कातने की मशीन में सुधार किया जाय कि रुई के सूत भी इतने मजबूत कत सकें कि उनसे ताने का काम लिया जा सके। इसी उधेड़बुन में वह लगा हुआ था कि एक दिन वह एक लोहे के कारखाने में गया। उसने बेलनों के बीच से लोहे के तार को खिंचते हुए देखा। तुरंत ही उसने सोचा कि 'क्या रुई की पूनिओं से सूत खींचने के लिए बेलनों का प्रयोग नहीं किया जा सकता ?'

इस नई सूझ के नशे में वह हज्जाम के पेशे को छोड़कर अनुसन्धान में जुट गया और उसने दृढ़ संकल्प किया कि सूत कातने की मशीन में क्रान्तिकारी सुधार करके ही रहूँगा। इस सिलसिले में उसने अपने

सभी प्रयोग घर के अन्दर तहखाने के भीतर किए थे, क्योंकि वह भली भाँति जानता था कि लोगों को उसके इरादे का यदि पता लग गया तो उसकी मशीन और स्वयं उसकी भी ख़ैर नहीं। बेचारा रात को ही अपने प्रयोग करता। एक दिन उसकी मशीन की घर्राहट की आवाज़ पड़ोस के दो बुड्ढों के कान में पड़ी तो उन्होंने दरवाज़े की झिरी में झाँककर देखा कि आखिर बात क्या है। दूसरे ही दिन तमाम कस्बे में उन्होंने खबर फैला दी कि रात को आर्कराइट शैतान का आवाहन करता है और शैतान के बाजे की धुन पर वह स्वयं नृत्य करता है।

किन्तु आर्कराइट अपने पड़ोसियों की अशुभ कामनाओं से निरुत्साहित नहीं हुआ। अन्त में १७७५ ई० में उसने सूत कातने की अपनी नई मशीन का पेटेन्ट करा ही लिया। यह मशीन पूनी बनाने से लेकर मजबूत सूत कातने तक सभी काम कर लेती। साथ ही इससे कते हुए सूत इस योग्य होते कि वे ताने पर भी लगाए जा सकें। प्रेस्टन के निकट ही उसने अपनी फ़ैक्टरी खड़ी की थी, पर उसे अपनी ही आँखों के सामने उपद्रवियों द्वारा विनष्ट होते भी उसे देखना पड़ा। किन्तु आर्कराइट साहस खोना जानता ही नहीं था। अन्याय के विरुद्ध वर्षों तक वह लड़ता रहा और अन्त में उसने अपने विरोधियों को नीचा दिखाया। पचास वर्ष की अवस्था में उसने उच्च शिक्षा प्राप्त की; धन-मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करने में भी वह सफल हुआ और अन्त में गवर्नमेण्ट ने उसे 'सर' की उपाधि से विभूषित किया।

वस्त्र-व्यवसाय के विकास के इतिहास में सैमुएल क्राम्पटन का नाम भी अमर रहेगा। क्राम्पटन का जन्म १७५३ ई० में बोल्टन नगर में हुआ था। बाल्यावस्था से ही उसे भी पेट पालने के धन्धे में लग जाना पड़ा। दिन को घर के अन्य लोगों के साथ वह सूत कातने की फ़ैक्टरी में काम करता। फ़ैक्टरी में उसने देखा कि कातते समय सूत बार-बार टूट जाया करता था। उसने सोचा कि यदि ऐसी मशीन तैय्यार हो सके कि उससे कातने पर सूत टूटे नहीं तो समय की भारी बचत होगी। फिर तो रात को घर पर जब सब लोग सो जाते तब वह तरह-तरह के प्रयोग करने में जुट जाता,



कपड़ा बुनने का सबसे सरल यंत्र—एक ग्रामीण करघा

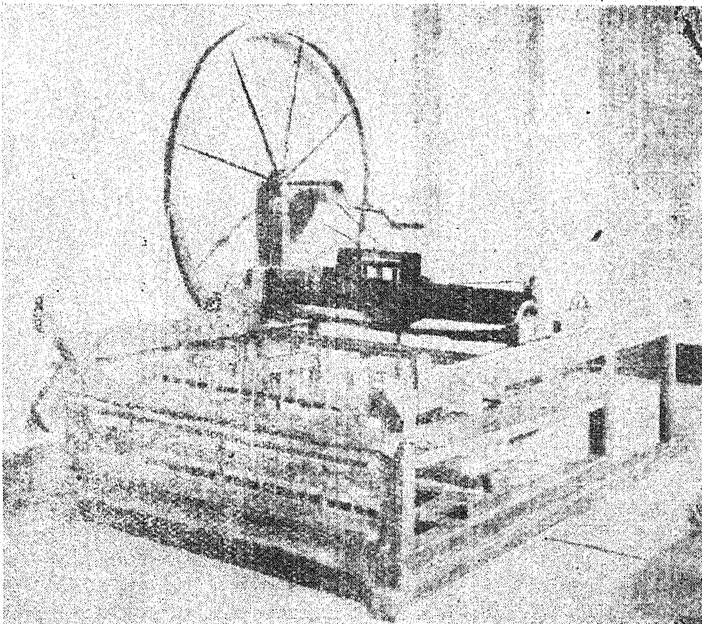
यद्यपि हाथ से चलाए जानेवाले जुलाहों के बढ़िया करघों और पुतलीघर के करघों में इससे कहीं अधिक यांत्रिक पेचीदगी होती है, फिर भी उनकी बुनाई का सिद्धान्त वही है जो इस सरल करघे का है!

ताकि कोई ऐसी मशीन तैय्यार की जाय जो प्रचुर मात्रा में तेज़ रफ़्तार से सूत तैय्यार कर सके। अपने प्रयोगों के सिलसिले में उसे भी हद दर्जे की सतर्कता से काम लेना पड़ता। अपनी मशीन के पुर्ज़ों को अलग करके वह छत के अन्दर एक दराज़ में छिपा दिया करता ताकि घर में आने-जानेवालों को उसकी मशीन के बारे में किसी तरह की खबर न लग सके। वह बख़ूबी जानता जानता था कि पास-पड़ोस के लोगों को उसके इस नवीन प्रयास की यदि खबर लग गई तो न उसकी खैर और न उसकी मशीन की। पूरे पाँच साल के अनवरत परिश्रम के उपरान्त वह अपनी मशीन का निर्माण पूरा कर पाया। उसने सूत कातनेवाली इस नई मशीन का नाम 'म्यूल' (खच्चर) रक्खा, क्योंकि यह हारग्रीव्ज़ और आर्कराइट की मशीनों के मेल से तैय्यार की गई थी।



सूत कातनेवाली मशीन का आविष्कारक सर रिचार्ड आर्कराइट

बोल्टन के फ़ैक्टरीवालों ने क्राम्पटन की मशीन को अपनी फ़ैक्टरियों में लगवाया, किन्तु पाँच वर्ष के अनुसन्धान और परिश्रम के उपरान्त अपने इस आविष्कार के लिए बेचारे क्राम्पटन को कुल ६० गिनी ही मिलीं! प्रत्येक फ़ैक्टरीवाले ने एक गिनी अपनी ओर से क्राम्पटन को दी। इस प्रकार ६० फ़ैक्टरियों से ये ६० गिनियाँ इकट्ठी हुई थीं। तमाम लङ्काशायर में कुछ ही दिनों के अन्दर क्राम्पटन की म्यूल मशीनें लग गईं। इसकी वजह से फ़ैक्टरीवालों की आय बेहद बढ़ी, किन्तु क्राम्पटन को एक पैसा भी बोल्टन के बाहर से कहीं नहीं मिला। अन्त में उसने गवर्नमेण्ट से अपील की कि उसकी आविष्कार की हुई मशीन ४० लाख से ऊपर की संख्या में देश के विभिन्न स्थानों में काम में आ रही है जबकि हारग्रीव्ज़ और आर्कराइट की मशीनों की तादाद दो-तीन लाख से अधिक नहीं है—अतः उसे उसकी मिहनत के लिए पारिश्रमिक मिलना चाहिए। फलस्वरूप गवर्नमेण्ट की ओर से इस आविष्कार के लिए उसे ५००० पौण्ड का पुरस्कार मिला। किन्तु यह छोटी सी रक़म उसे वृद्धावस्था में ग़रीबी से न बचा सकी। उन दिनों उस पर तरस खाकर बोल्टन के फ़ैक्टरी-मालिकों ने अपनी ओर से चन्दा इकट्ठा करके १०० पौण्ड वार्षिक के हिसाब से उसे पेन्शन देने का इन्तज़ाम किया। इस प्रकार एक प्रतिभाशाली आविष्कारक को, जिसके आविष्कार की बदौलत अनेक व्यक्ति लखपती हो गए, स्वयं वृद्धावस्था में दूसरों के दान पर आश्रित होना पड़ा!



हारग्रीव्ज़ द्वारा आविष्कृत सूत कातने की मशीन 'स्पिनिंग जेनी'

यद्यपि सूत कातने की तरह-तरह की मशीनें अब तक तैय्यार हो चुकी थीं, किन्तु कपड़ा बुनने के लिए अभी हाथ के ही करघे काम में लाए जाते थे। नाटिंघम के एक



कपास में से बिनौला अलग निकालने की मशीन ! बिनौला-रहित कपास ही रुई कहलाता है ।

युवक पादरी एडमण्ड कार्टराइट ने सोचा कि कपड़ा बुनने के लिए भी मशीन का ही प्रयोग क्यों न किया जाय। उसने जब अपना विचार वस्त्र-व्यवसाइयों के सामने प्रकट किया तो उन लोगों ने उत्तर दिया कि ऐसी मशीन का बनाना असम्भव है। किन्तु कार्टराइट ने अपनी धुन नहीं छोड़ी और अन्त में उसने असम्भव को सम्भव कर दिखाया।

गिर्जाघर के इस पादरी को करघे के पुर्ज़ों का ठीक ज्ञान भी प्राप्त न था। अतः अपने अवकाश के समय वह फ़ैक्टरियों में जाकर ग़ौर से देखता कि करघे किस तरह चलाये जाते हैं । आख़िर अपनी सारी पूँजी लगाकर कार्टराइट ने कपड़ा बुनने की मशीन तैय्यार कर ही डाली—और अपनी इस मशीन के परिचालन के लिए उसने एक छोटा भाप का इंजिन भी बनाया। उसकी मशीन की उपयोगिता तत्काल ही सिद्ध हुई और तुरंत ही मैन्चेस्टर की फ़ैक्टरियों से उसे इस ढंग की ४०० मशीनों का आर्डर मिला। किन्तु तत्कालीन जुलाहों ने कार्टराइट की मशीन का घोर विरोध किया, यहाँ तक कि कार्टराइट के कारख़ाने पर, जिसमें ये मशीनें तैयार की जा रही थीं, उन्होंने धावा बोलकर उसे फूँक दिया। किन्तु कुछ दिनों उपरान्त अन्य आविष्कारों की भाँति कार्टराइट की मशीन को भी धीरे-धीरे सभी लोगों ने अपनाया और ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने कार्टराइट को उसके परिश्रम और आर्थिक व्यय के लिए १० हज़ार पौण्ड का पुरस्कार भी दिया।

बुनने और कातने की मशीनों की कार्य्यक्षमता के बेहद बढ़ जाने से कपास बोनेवाले किसानों के सामने एक नई समस्या आ उपस्थित हुई। उनके मज़दूर औटे हुए कपास से इतनी जल्दी बिनौले अलग नहीं कर पाते थे कि फ़ैक्टरियों की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए वे



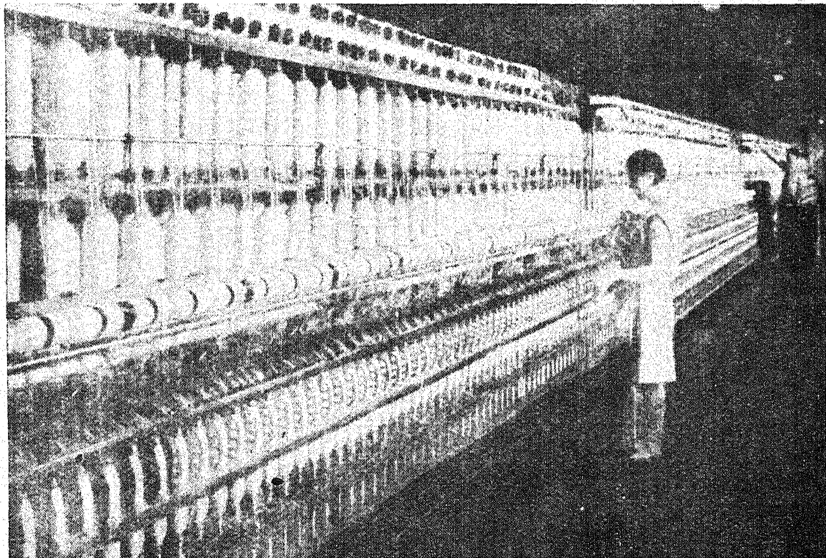
कपास में से रुई को निकालकर इसी प्रकार की गाँठों में कस दिया जाता है। यही गाँठें पुतलीघरों में भेजी जाती हैं।

साफ़ की हुई रुई समय पर सप्लाई कर सकें। आवश्यकता ही आविष्कारों की जननी है, अतः इस मुश्किल को हल करने के उद्योग में बिनौला साफ़ करने की 'जिनिङ्ग मशीन' का जन्म हुआ। इस मशीन की सहायता से अकेला एक व्यक्ति दिन भर में ५०० सेर रुई में से बिनौला अलग कर सकता है।

अब आइए, देखें पुतलीघर में विभिन्न मशीनें किस प्रकार रुई साफ़ करके उसे धुनती हैं, उसकी पूनी बनाती हैं, उन्हें सूत में कातती हैं और फिर ताना-बाना डालकर उनसे भाँति-भाँति के वस्त्र तैयार कर लेती हैं।

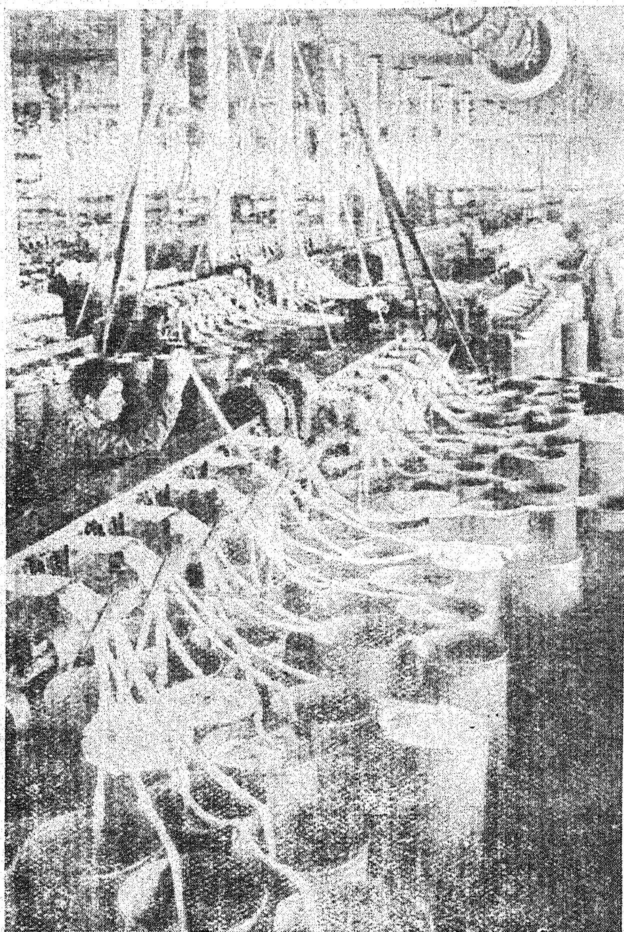
पहले पुतलीघरों में खूब कसकर बँधी हुई रुई की गाँठें मालगोदाम से ले आई जाती हैं। गाँठ में से रुई काम में लाने के पूर्व उसमें से दो मुट्ठी रुई निकालकर विशेषज्ञ उसकी भलीभाँति जाँच करते हैं कि रुई के रेशे किस श्रेणी के हैं। जाँच करते समय विशेषज्ञ रुई को दोनों हाथों से पकड़कर उसे एक विशेष अन्दाज़ से खींचता है। फिर उसमें से थोड़ी रुई लेकर वह दोनों अँगूठों से उसके रेशे को खींचकर देखता है कि उसके रेशे औसत रूप से कितने लम्बे हैं, क्योंकि रुई की श्रेष्ठता उसके रेशों की लम्बाई पर ही निर्भर रहती है। उदाहरण के लिए पश्चिमी द्वीपसमूह की रुई संसार के अन्य देशों की रुई की तुलना में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है, क्योंकि इसके रेशे की लम्बाई २ इंच तक पहुँचती है। मिस्र की रुई में पौने दो इंच लम्बे रेशे होते हैं। अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र की रुई द्वितीय श्रेणी में आती है। इसके रेशे एक इंच से लेकर सवा इंच तक लम्बे होते हैं। भारत की रुई जो अच्छी जाति की हुई तो उसके रेशे ५/८ इंच से लेकर १ इंच तक लम्बे होंगे। किन्तु अधिकांश भारतीय रुई तृतीय श्रेणी में आती है। इसके रेशे १/२ इंच से लेकर ३/४ इंच तक लम्बे होते हैं। रुई का वर्गीकरण उसके रेशे की इस लम्बाई के अनुसार ही किया जाता है। तभी यह निश्चय किया जा सकता है कि इससे कितना बारीक सूत काता जायगा।

तदुपरान्त गाँठ खोल ली जाती है और मज़दूर उसे रुई साफ़ करनेवाली पहली मशीन पर ले जाते हैं। वहाँ हाथ से उठा-उठाकर रुई के ढेर को वे मशीन के हरकत करते हुए 'बेल्ट' पर डालते हैं। यह बेल्ट लकड़ी की तीलियों से बना होता है। मशीन के अन्दर एक बेलन घूमता रहता है, जिसमें लंबी-लंबी कीलें लगी रहती हैं। ये कीलें रुई की गाँठों को अच्छी तरह बिखेरकर रुई को खोल देती हैं। इससे रुई की गर्द अलग होकर नीचे गिर जाती है। तदुपरान्त रुई को दूसरी मशीन में डालते हैं। इस मशीन के बेलन में इतनी अधिक संख्या में कीलें लगी रहती हैं कि इसका नाम ही "साही" बेलन पड़ गया है, क्योंकि साही के काँटों की तरह इसकी कीलें भी अगणित होती हैं। इस मशीन में रुई के रेशे और भी खुल जाते हैं। अब इस मशीन में से निकलने पर एक चौड़े मुँह की नली द्वारा हवा की साँस के ज़ोर से रुई खिंचकर तीसरी मशीन में पहुँचती है। इस मशीन का नाम 'ओपनर' है। यहाँ पर भी रुई साफ़ करने तथा उसके रेशे को खोलकर मुलायम करने की क्रिया जारी रहती है। तदुपरान्त रुई को दो-तीन और मशीनों में से



आधुनिक पुतलीघर में सूत कातनेवाली मशीनों का ताँता

यह अद्भुत मशीन केवल एक-दो श्रमिकों की ही देखरेख में एक निश्चित समय में उतना सूत कात सकती है, जिसे हाथ के चरखे पर कातने के लिए कम से कम ४००० कातनेवाले चाहिएँ।



रुई की पूनियाँ बन जाने पर तब इस प्रकार मशीन द्वारा छः-छः पूनियों को एक लंबी पूनी के रूप में परिवर्त्तित किया जाता है। कभी-कभी यह क्रिया छः-सात बार दुहराई जाती है।

होकर गुज़रना होता है और अन्त में वह लोहे के बेलनों के बीच से स्वच्छ रुई की तह के रूप में निकलती है। यह तह आध इंच मोटी और ४ फ़ीट चौड़ी होती है। यह लम्बी तह बेलन के रूप में लपेट ली जाती है। किन्तु रुई साफ़ करने की क्रिया अभी भी पूर्ण नहीं हुई। रुई की तह का बेलन अब एक दूसरी मशीन में से होकर गुज़रता है। यहाँ पर रेशे और भी मुलायम और साफ़ किये जाते हैं। फिर इस मशीन से भी रुई की तह बेलन के रूप में ही लिपट-कर बाहर निकलती है। इस तरह साफ़ और धुनी हुई रुई के बेलन ट्राली पर खड़े कर दिये जाते हैं और मज़दूर उस ट्राली को लोहे की पटरियों पर ठेलकर कार्डिंग रूम (पूनीघर) में ले जाते हैं।

पूनी तैयार करनेवाली मशीन में एक खोखले ढोल के अन्दर बेलन तेज़ी से घूमता है। बेलन के धरातल पर बहुत-सी कीलें निकली रहती हैं। ढोल के भीतरी धरातल पर भी कीलें गड़ी रहती हैं। घूमते समय बेलन की कीलें ढोल की कीलों के बीच में से होकर गुज़रती हैं। ढोल में धुनी हुई रुई जब पड़ती है तो बेलन की कीलें निरन्तर रुई के रेशों को कंघे की तरह एक ही दिशा में खींचती हैं। इस प्रकार रुई के सभी रेशे एक-दूसरे के समानान्तर हो जाते हैं। ऐसी ही दो-तीन मशीनों में से गुज़रने के बाद मुलायम हुए रेशोंवाली इस रुई के गादे को एक ऐसी मशीन में से होकर जाना पड़ता है जो उसे खींचकर फुलफुली लम्बी पूनी का रूप देती है। यह पूनी लगभग १ इंच मोटी होती है। रेशे को समान बनाने के लिए ६-६ पूनियों को पुनः एक साथ मशीन में डालकर उनसे एक पूनी खींचते हैं। कभी-कभी तो यह क्रिया ६-७ बार दुहराई जाती है। इस क्रिया में मशीन पूनियों में ऐंठन भी डाल देती है। जितनी बार इस क्रिया की पुनरावृत्ति की जाय उतना ही बढ़िया सूत पूनी से प्राप्त होगा।

सूत कातनेवाली आधुनिक मशीनें अपना काम अत्यन्त फुर्ती के साथ करती हैं। इन मशीनों के प्रत्येक 'बाबिन' (Bobbin) के सिरे पर धातु की एक गराड़ी लगी रहती है, जिसके किनारे कुछ बाहर की ओर निकले हुए होते हैं। गराड़ी के किनारे पर एक नन्हा-सा छल्ला फ़िट किया रहता है। इस छल्ले का मुँह कटा रहता है ताकि उसके मुँह के दोनो होंठ गराड़ी के किनारे को पकड़े रहें। पूनी का धागा बाबिन में लगने के पहले इसी छल्ले में से होकर गुज़रता है। यह छल्ला गराड़ी के किनारे पर तेज़ी के साथ परिक्रमा लगाता है—एक मिनट में लगभग ८००० बार। मशीन को देखने पर छल्ले हरकत करते हुए दिखलाई नहीं पड़ते, किन्तु हाथ लगाने पर छल्ले का घूमना मालूम पड़ता है। छल्ले के घूमने से धागे में ऐंठन पड़ती जाती है और पूनी में खिंचाव भी उत्पन्न होता है। इस प्रकार तेज़ी के साथ धागा कतता जाता है। पूनी

और छल्ले के बीच लगभग १० इंच की दूरी रहती है, जिससे निरन्तर १० इंच लम्बे धागे में ऐंठन पड़ती रहती है। इस प्रकार धागे में प्रति इंच ६४ ऐंठनें पड़ती हैं।

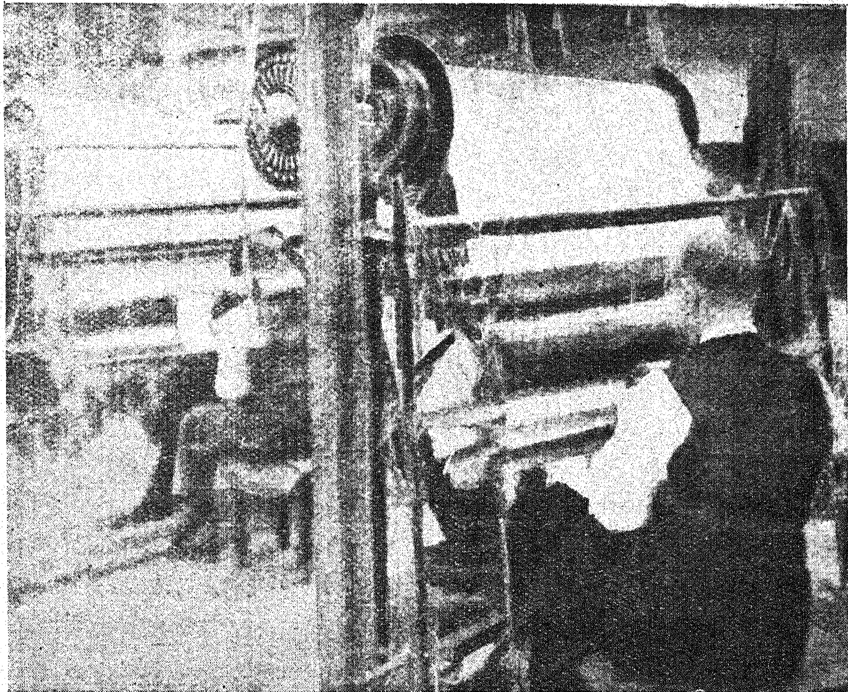
शुष्क प्रदेशों की मिलों में जिस कमरे में कताई की मशीनें चलती हैं, उस कमरे में वायु को आर्द्र रखने के लिए भाप की फुआर हवा में छोड़ते रहते हैं, क्योंकि अधिक शुष्क वायु में बारीक धागे काते नहीं जा सकते।

धागों को कताई की मशीन से रीलों पर उतार लेने के बाद तुरन्त ही उन्हें बुनाई विभाग में नहीं भेजते, क्योंकि रील पर से उतारने पर उनकी ऐंठन खुल जाती है। अतः बुनाई विभाग में भेजने के पहले या जुलाहों के हाथ बेचने के पूर्व सूत में एक नियत परिमाण में नमी का प्रवेश कराया जाता है। कम-से-कम आठ प्रतिशत जल-वाष्प धागे के अन्दर मौजूद होनी चाहिए।

कताई की विशालकाय मशीनें यद्यपि तीव्र वेग से चलती हैं और हज़ारों धागे एक साथ ही काते जाते हैं, किन्तु यदि एक भी धागा कताई के सिलसिले में टूटा तो मशीन फ़ौरन् रुक जाती है। तब संचालक तुरन्त ही धागे को जोड़ता है और मशीन को फिर से चालू करता है। पिछले बेलन के ऊपर ही प्रत्येक धागे पर एक-एक दोमुँही सुई लटकती रहती है। जब तक धागे तने रहते हैं, ये सुइयाँ भी धागों पर समतुलित रहती हैं, किन्तु धागे के टूटते ही उसके ऊपर टँगी हुई सुई नीचे बेलन पर गिर जाती है। फलस्वरूप बेलन को एक हलका-सा धक्का पहुँचता है। उस धक्के के ज़ोर से वह एक लीवर परिचालित करता है, जो मशीन को गियर से हटाकर उसे रोक देता है।

अब बुनाई का काम शुरू हुआ। पर इसके पहले ताना के लिए धागे पर कलफ़ चढ़ाना होता है। इसके लिए साबूदाने और आटे के कलफ़ के गर्म घोल में धागा डाल कर बाहर निकाल लिया जाता है और उसे सुखाने के लिए ताँबे के खोखले बेलनों पर लपेटते हैं। इस बेलन के अन्दर निरन्तर गर्म भाप भेजी जाती है, जो बेलन को ठीक इतना ही गर्म रखती है कि धागे सूख तो जायँ किन्तु वे जलने न पायें। बेलन पर से जब धागे उतारे जाते हैं तो वे एक डण्डे के ऊपर नीचे से इस प्रकार गुज़ारे जाते हैं कि एक धागा ऊपर से गुज़रता है तो उसके बग़ल का धागा नीचे से। इस तरह धागे एक दूसरे से अलग हो जाते हैं, वे एक दूसरे से चिपकने नहीं पाते। तदनन्तर धागा बुनने-वाली मशीन के बेलन पर लपेटा जाता है।

अब इससे ताना तैयार करते हैं। यह काम केवल विशेषज्ञों को ही सौंपा जाता है। ताना तैयार करने के लिए प्रत्येक धागा सूत के छोटे-छोटे फन्दों में से गुज़ारा जाता है। फिर ये धागे एक कंघे की शक्ल की फ्रेम के दाँतों में से गुज़ारे जाते हैं। इस कंघे के दाँत धातु की तीलियों के बने होते हैं। कंघे के फ्रेम की चौड़ाई जितनी बड़ी होगी, उतने

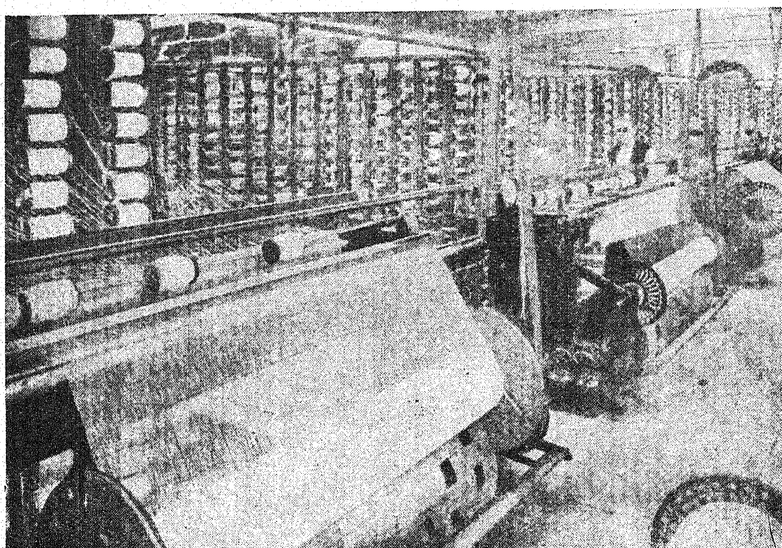


ताना तैयार किया जा रहा है

बुनाई आरंभ करने के पहले विशेषज्ञ सूत के धागों को मनोनीत डिज़ाइन का वस्त्र बनाने के उद्देश्य से एक कंघे की शक्ल के फ्रेम के दाँतों में पिरोकर इस प्रकार ताना तैयार करता है।

ही अर्ज़ का कपड़ा मशीन पर तैयार हो पायगा। साधारण बुनाई के लिए कंघे के हर दाँत के बीच से एक धागा खींचना होता है। किन्तु विभिन्न डिज़ाइनों की बुनाई के लिए कंघे के दाँतों के बीच से एक धागा, फिर बग़ल की झिरी से दो, फिर एक, तब तीन—इस तरह काफ़ी पेचीदा हिसाब हो जाता है। धागा खींचनेवाले ने ज़रा-सी ग़लती की कि कपड़े के डिज़ाइन में नुक्स आ गया। किन्तु विशेषज्ञ इस कठिन काम को भी सरलतापूर्वक बिना ग़लती किए करते रहते हैं।

ताना तैयार हो जाने पर वह बुनाई की स्वयंक्रिय मशीन में फ़िट कर दिया जाता है। यहाँ शटल अपने आप विद्युत्गति से एक से दूसरी ओर दौड़ लगाकर बाना डालकर भिन्न-भिन्न डिज़ाइनों के कपड़े तैयार करते हैं। स्वयंक्रिय यंत्र अपने आप शटल के खाली होने पर उसमें धागा भी भर देते हैं, जिससे हर तरह से समय की बचत हो जाती है।



इन मशीनों पर ताना भरनेवाले धागों को आवश्यक चौड़ाई में एक के पास एक व्यवस्थित करके एक बेलन पर लंबाई के रुख़ लपेटा जाता है। यह क्रिया इस प्रकार संपन्न की जाती है कि क्या मजाल कि एक भी धागा दूसरे में उलझ जाय। सभी एक-दूसरे के समानान्तर और निर्धारित फ़ासले पर रहते हैं!

पुतलीघर का बुनाई का विभाग बहुत अधिक कोलाहलमय विभाग होता है। अक्सर एक बड़े पुतलीघर में इस विभाग में दो हज़ार तक 'लूम' (बुनाई की मशीनें या करघे) लगे रहते है, जिनमें विद्युत् गति से प्रतिमिनट २०० बार इधर से उधर दौड़नेवाली ढरकियों (Shuttles) तथा अन्य पुर्जों की खटखट के मारे काफ़ी हंगामा मचा रहता है। ये करघे कई आकार-प्रकार के होते हैं और उनमें से बहुतेरे तो पेचीदा यंत्रों के ऐसे जंजाल होते हैं कि देखकर आश्चर्य होता है। वे एक साथ ही विभिन्न रंगों के धागों को अत्यंत उलझनवाली डिज़ाइनों में बुनकर कपड़े पर मनमानी चित्रकारी उतार देते हैं। उनमें से कई इतने अधिक बड़े होते हैं कि उन पर बारह फ़ीट तक चौड़ा कपड़ा बुना जा सकता है! इन आश्चर्यजनक मशीनों में रंग-बिरंगे डिज़ाइनों के कपड़े बनाने के लिए एक विशेष प्रकार की यंत्र-व्यवस्था होती है,जिसे 'जेकर्ड की यंत्र-व्यवस्था' कहते हैं। इस यंत्र-व्यवस्था की तुलना हम पियानो नामक वाद्ययंत्र से कर-सकते हैं। जिस प्रकार पियानो के भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार के छिद्र उसमें से निकलनेवाले विभिन्न स्वरों का नियंत्रण करते हैं, उसी तरह इस बुनाई की मशीन पर लगे हुए एक छिद्रमय काग़ज़ के छेदों द्वारा कपड़े की निश्चित डिज़ाइन का निर्धारण होता है।

लूम पर से छूट जाने पर भी कपड़े के थान की अभी पूरी तरह मुक्ति नहीं हो पाती—इसके बाद अभी तरह-तरह के रासायनिक द्रव्यों से धोकर उसे एकदम सफ़ेद करने, उस पर कलफ़ चढ़ाने, उसे आवश्यक रंग से रँगने, लोहा करके उस पर चमक लाने तथा उसको निर्धारित आकार में काटकर उसकी तह करने का काम बाक़ी रहता है। इसके अतिरिक्त यदि उस पर छींट आदि की-सी किसी प्रकार की छपाई करना हुई तो और भी कई मशीनों पर से होकर उसे गुज़रना पड़ता है। जब ये सब प्रकियाएँ समाप्त हो जाती हैं, तब अंत में थानों पर कपड़े की नाप, मिल का लेबल और नंबर आदि छापकर उन्हें गोदामों में भेज दिया जाता है, जहाँ से गाँठों में कसकर वे स्थान-स्थान के बाज़ारों में खपत के लिए भेजे जाते हैं।



संस्कृत-वाङ्मय—७

कालिदासोत्तर-काल

कालिदास के बाद भी काव्य में वह परम्परा चलती रही, जिसका वाल्मीकि और कालिदास ने आरम्भ किया था। भारवि, भट्टि, कुमारदास और माघ इसी कालिदासोत्तर-काल में हुए। हम इसे 'कालिदासोत्तर-काल' इस कारण कहते हैं कि यद्यपि स्वयं कालिदास का समय तो पाँचवीं सदी में ही बीत चुका था, फिर भी उनके काव्य की मुद्रा से ही बाद के कवियों की कृतियाँ अङ्कित होती रहीं। बहुत-कुछ उनका अपना होते हुए भी काव्य-लक्षणों और गुणों के विचार से इन बाद के कवियों की कला उस गुप्त-कालीन महाकवि की कला का उपसंहार मात्र थी। अब हम इन उत्तरकालीन कवियों की रचनाओं पर विचार करेंगे।

१. भारवि

अपने जीवन के सम्बन्ध में भारवि भी संस्कृत कवि-परम्परा के अनुसार हमें कुछ नहीं बताते—उन्होंने अपने जीवन-चरित के संबंध में कोई चिह्न न छोड़े। बाह्य प्रमाणों से भारवि ६३४ ई० के पूर्व के ही सिद्ध होते हैं, क्योंकि उसी साल के खुदे ऐहोल के लेख में कालिदास के साथ ही उनका नाम भी उद्धृत है। फिर 'काशिका-वृत्ति' में भी उनका उद्धरण दिया गया है। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि उनका महाकाव्य 'किरातार्जुनीय' जहाँ एक ओर कालिदास का ऋणी है वहाँ उसी ने दूसरी ओर माघ के 'शिशुपालवध' को प्रभावित भी किया है। बाण ने भारवि का उल्लेख नहीं किया। इससे जान पड़ता है कि भारवि, बाण से कुछ ही पूर्व हुए थे। दोनों के समय में विशेष अन्तर न होने से भारवि बाण की श्रद्धा के पात्र न हो सके। भारवि को ५०० ई० के बाद और ५५० ई० के आसपास ही रखना उचित होगा।

भारवि द्वारा प्रणीत महाकाव्य 'किरातार्जुनीय' है। इस महाकाव्य की कथा-वस्तु महाभारत से ली गई है। महाभारत में एक प्रसंग आता है, जब पाण्डव अपनी पत्नी के साथ बारह वर्षों तक वनवास करने को बाध्य होते हैं। उस समय द्वैत वन में द्रौपदी पाण्डवों को अपनी प्रतिज्ञा भंग करने के लिए उकसाती है। युधिष्ठिर दिये हुए वचन के पक्ष में बोलते हैं और भीम द्रौपदी का पक्ष लेकर युक्तियों का खंडन करते हैं। महर्षि व्यास पाण्डवों को द्वैत वन छोड़कर काम्यक वन चले जाने की सलाह देते हैं। वहाँ पहुँचने पर युधिष्ठिर अर्जुन को भारत-युद्ध से पूर्व शिव का अस्त्र प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। अर्जुन हिमालय में जाकर कठोर तप करते हैं। वहाँ उनका एक प्रबल किरात से युद्ध होता है। वह किरात वास्तव में शिव ही सिद्ध होता है, जो अर्जुन को पाशुपतास्त्र के साथ और भी वर प्रदान करता है। अन्य देवता भी उसे वर देते हैं। महाभारत की इस कथा को भारवि ने अपनी कला और काव्यधारा से चमत्कृत कर दिया है। किरातार्जुनीय के आरम्भ में ही पाठक को कलाकार भारवि का साक्षात्कार होता है। उसकी परिमार्जित शैली महाभारत से कहीं सुन्दर प्रतीत होती है, जब महाकवि प्राचीन आख्यायिका की अनलंकृत मानव-पीड़ा से ऊपर उठ जाता है और अपने काव्य का आरम्भ उस चर के प्रत्यावर्तन के साथ करता है जो दुर्योधन का आचरण जानने के अर्थ युधिष्ठिर द्वारा नियुक्त हुआ था। अभिनय-शक्ति को परिवर्धित करने में यह चर का सम्वाद निस्सन्देह अत्यन्त शक्तिपूर्ण है। वह कहता है कि दुर्योधन ने अपने धर्माचरण से प्रजा का हृदय हर लिया है। इस पर द्रौपदी युधिष्ठिर पर व्यंग-बाण छोड़ती हुई उसे युद्ध करने को उत्तेजित करती है। किरातार्जुनीय के प्रथम सर्ग में इस विषय का वर्णन है। द्वितीय सर्ग में द्रौपदी के पक्ष में प्रयुक्त युक्तियाँ हैं। युधिष्ठिर आचार और वचन के गौरव का सहारा लेता है। तीसरे सर्ग में वह व्यास की सम्मति लेता है। व्यास कहते हैं कि युद्ध तो होगा ही, परन्तु चूँकि शत्रु प्रबल है इसलिए अर्जुन हिमालय में इन्द्र की

सहायता के लिए तप करे। उनकी बात मानकर अर्जुन तपस्या करता है। एक यक्ष अर्जुन को राह दिखाता हुआ हिमालय की ओर ले जाता है। चौथे सर्ग में कवि की कृति अत्यन्त नवीन आकार धारण करती है। उसकी शैली प्रौढ़ और अलंकृत हो जाती है। भाषा के ऊपर कवि की शक्ति पूरी-पूरी प्रदर्शित होती है। अर्जुन को यक्ष लिये जाता है और शरत् का वर्णन मूर्त्तिमान् हो उठता है। पाँचवें सर्ग में हिमालय की सुन्दरताओं का वर्णन है। फिर शिव और पार्वती के इन्द्रकील शिखर पर अर्जुन को तप का स्थल बताकर यक्ष अन्तर्द्धान हो जाता है। अर्जुन का घोर तप गुह्यकों को डरा देता है और वे उससे त्राण पाने के लिए इन्द्र से प्रार्थना करते हैं। इन्द्र गन्धर्वों और अप्सराओं को अर्जुन का तप नष्ट करने को भेजता है (सर्ग छः)। सातवें सर्ग में इन्द्रकील पर्वत पर देवताओं का अवतरण वर्णित है। आठवें में अप्सराएँ अपने प्रासादों को छोड़कर वन में पुष्पचयन करती फिरती हैं। गंगा उन्हें स्नान के निमित्त आमंत्रित करती है और अप्सराओं के जलविहार, उनके स्नान, आदि का कवि अत्यन्त मार्मिकता से वर्णन करता है। नवें सर्ग में संध्यासमय सूर्य क्षितिज के ओट में हो जाता है और चन्द्रमा धीरे-धीरे उसकी मूर्द्धा पर चढ़ता है। रजनी की चन्द्रकिरणों के नीचे अप्सराएँ जब गन्धर्वों का अपने प्रणय से अभिसिञ्चन करती हैं तब कवि की लेखनी से सुधा बरसने लगती है। रमणीय प्रभात प्राची में प्रस्फुटित होता है। आगे के सर्ग में अप्सराएँ फिर अपने विनिश्चित कार्यक्रम की ओर झुकती हैं। ऋतुएँ अपने नवाभरणों से उनकी सहायता करती हैं, परन्तु उस नव-वयस्क कठिन तपस्वी अर्जुन को वे जीत नहीं सकतीं। ग्यारहवें सर्ग में अपने भेजे हुए निमित्तों के असफल होने पर स्वयं इन्द्र ऋषि के रूप में अर्जुन के सम्मुख उपस्थित होता है और उसके तप की कठोरता देख स्तब्ध रह जाता है। फिर भी वह कहता है कि तप और शस्त्र दोनों का एक साथ व्यवहार अनुचित है। अर्जुन उसकी इस युक्ति को मानता हुआ भी कहता है कि वह अपने कुल के गौरव की रक्षा करेगा। इन्द्र उसके अध्यवसाय और उत्साह से प्रसन्न होकर अपने को प्रकट करता है और उसे शिव का अनुग्रह प्राप्त करने की सम्मति देता है। ग्यारहवें सर्ग के बाद कवि फिर महाभारत का आश्रय लेता है। अर्जुन बारहवें सर्ग में शिव की प्रसन्नता के लिए तप करता है। महर्षि लोग स्वयं विचलित होकर शिव की प्रार्थना करते हैं और शिव अर्जुन को 'नर' की संज्ञा देकर उसके अमानवी रूप का उसके प्रति व्याख्यान करते हैं। मूक नाम का असुर शूकर का रूप धारण कर अर्जुन का वध करने का प्रयत्न करता है। शिव अपने भूतों को अर्जुन की रक्षा के लिए भेजते हैं। तेरहवें सर्ग में शूकर अर्जुन के सामने आता है और उसके तथा शिव के बाणों से एक साथ बिंध जाता है। अर्जुन अपना बाण लेने के लिए उसकी ओर बढ़ता है, परन्तु एक किरात शूकर को अपने मालिक शिव के नाम में माँगता है। इस पर चौदहवें सर्ग में अर्जुन शूकर को अपने शिकार की वस्तु बताता हुआ एक लम्बी व्याख्या करता है। किरात लौटकर शिव को यह सन्देश सुनाता है और शिव अपने गणों को अर्जुन के विरुद्ध भेजते हैं। परन्तु अर्जुन उनके शरों को विफल कर देता है। पन्द्रहवें सर्ग में शिव और स्कन्द भागी हुई गण-सेना को लौटा लाते हैं। शिव और अर्जुन के बीच भयंकर युद्ध छिड़ जाता है। सोलहवें सर्ग में शिव के दिव्य अस्त्रों की प्रबल मार से अर्जुन जर्जर हो जाता है। फिर भी सत्रहवें में वह अपना धनुष धारण करता है और चट्टानों तथा पेड़ों से शिव पर प्रहार करता है। परन्तु सारा प्रयत्न व्यर्थ होता है। अन्त में दोनों में द्वन्द्व-युद्ध होता है और शिव अपना रूप अर्जुन पर प्रकट करते हैं। अर्जुन शिव की पूजा और उनकी स्तुति करता है और शिव तथा अन्य दिक्पाल अनेक दिव्यास्त्र अर्जुन को प्रदान करते हैं। इस प्रकार पाशुपतास्त्र अर्जुन को प्राप्त होता है, जिसके लिए उसने कठिन तप किया था। यही किरातार्जुनीय की सर्गशः कथा है, जो निस्सन्देह महाभारत के प्रसंग से कहीं सुन्दर है और जिसे भारवि के 'अर्थगौरव' की शैली परिमार्जित करती है।

भारवि के अर्थगौरव और शैली-सौन्दर्य्य के निदर्शन के निमित्त कुछ उद्धरण देना उचित होगा। नीचे का श्लोक राजा की कुशलता का साक्षी है—

कृतप्रमाणस्य महीम्महीभुजे जितां सपत्नेन निवेदयिष्यतः
न विव्यथे मनो न हि प्रियम्प्रवक्तमिच्छन्ति मृषाहितैषिणः

नीचे के श्लोक में दुर्योधन की सुन्दर प्रशंसा है।—

न तेन सज्यं क्वचिदुद्यतं धनुः कृतं न वा तेन विजिह्ममाननम्।
गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते नराधिपैर्माल्यमिवास्य शासनम्॥

दिवसावसान और रात्र्यागम पर भारवि ने सूर्यास्त और चन्द्रोदय का अभिराम वर्णन किया है—

अंशुपाणिभिरतवीव पिपासुः पंकजं मधु भृशं रसयित्वा।
क्लीबतामिव गतः क्षितिमेष्यंल्लोहितं वपुरुवाह पतंगः॥

रात्रि और चन्द्रमा का एक और सुन्दर वर्णन नीचे के श्लोक में है—

संविधातुमभिषेकमुदासे मन्मथस्य लसदंशुजलौघः ।
यामिनीवनितया ततचिह्नः सोत्पलो रजतकुम्भेवेन्दुः ॥

फिर शिशिर का वर्णन भी सुन्दर है और अनेक स्थलों पर कालिदास के ऋतुसंहार का स्मरण करा देता है। इसमें सन्देह नहीं कि भारवि की मेधा आरम्भिक कालिदास के ऋतुसंहार से कहीं बढ़कर प्रखर और परिपक्व है। एक उदाहरण यह है—

कतिपयसहकारपुष्परम्यस्तनुतुहिनोऽल्पविनिद्रसिन्दुवारः ।
सुरभिमुखहिमागमान्तशंसी समुपययौ शिशिरः स्मरैकबन्धुः ॥

एक जल-विहार का वर्णन भी अत्यन्त मनोमोहक है। जल में डुबकी लगाने के कारण युवतियों की केशराशि उलझ गई है। उनसे मुखमण्डल ढक गया है। कमल और आच्छादक भ्रमरपंक्ति का स्मरण कवि को हो आता है—

तिरोहितान्तानि नितान्तमाकुलैरपां विगाहादलकैः प्रसारिभिः ।
ययुर्वधूनां वदनानि तुल्यतां द्विरेफवृन्दान्तरितैः सरोरुहैः ॥

प्रियदर्शन से विकृत आत्मचेष्टा का एक सुन्दर वर्णन इस प्रकार है—

प्रियेऽपरा यच्छति वाचमुन्मुखी निबद्धदृष्टिः शिथिलाकुलोच्चया ।
समादधे नांशुकमाहितं वृथा विवेद पुष्पेषु न पाणिपल्लवम् ॥

किरातार्जुनीय के अनेक स्थल सजीव और हृदयग्राही हैं और यद्यपि भारवि प्रसाद और काव्यरंजन में कालिदास की समता नहीं कर सकता, फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि उच्चाशयता और अर्थ की गुरुता में वह असाधारण है। वैसे भारवि ने जहाँ-तहाँ शब्दों की बाजीगरी भी की है। नीचे के उदाहरण में पंक्ति आगे-पीछे दोनों ओर से एक-सी पढ़ी जाती है—

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु ।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत् ॥

भारवि का अर्थगौरव विशिष्ट है, परन्तु उसकी शैली कालिदास की भाँति न तो प्रसादपरक है और न त्रुटियों से नितान्त रहित। कितने स्थलों पर अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन से उसने शैली को बोझिल कर दिया है। व्याकरण के चमत्कार दिखाने के लिए अनेक प्रसंगों में प्रयत्न किये गये हैं। पाणिनि के कई 'अलौकिक' नियम अकारण बरते गये हैं। अलंकारों और छन्दों के प्रयोग में अवश्य भारवि का स्थान बहुत ऊँचा है। साधारणतया वह सरल छन्दों का ही प्रयोग करता है। केवल एक ही कठिन छन्द उद्‌गाता का प्रयोग उसने सत्रहवें सर्ग में किया है। इस सर्ग का अन्तिम श्लोक प्रहर्षिणी है। पाँचवें और अठारहवें सर्गों में उसने सोलह प्रकार के विविध छन्दों का उपयोग किया है। तीसरे, सोलहवें और सत्रहवें में इन्द्रवज्रा की शाखा उपजाति का प्रयोग हुआ है। पहले चौथे और चौदहवें सर्गों में वंशस्था का और दूसरे में वैतालीय का। इसी प्रकार पूरे अठारहवें सर्ग में द्रुतविलम्बित, छठे में प्रमिताक्षरा, सातवें में प्रहर्षिणी, नवें में स्वागता और दसवें में पुष्पिताग्रा प्रयुक्त हुई हैं। ग्यारहवें और पन्द्रहवें सर्गों में श्लोक और तेरहवें में औपच्छन्दसिक का प्रयोग हुआ है।

२. भट्टि

भट्टि एक विचक्षण कवि है, जिसका 'रावणवध' काव्य 'भट्टिकाव्य' के नाम से प्रसिद्ध है। कवि की विचक्षणता इस बात में है कि उसकी रचना श्लेषात्मिका है और उसका 'रावणवध' काव्य होते हुए भी व्याकरण का एक ग्रन्थ है! कवि का कहना है कि उसने वलभी के राजा श्रीधरसेन के आश्रय में अपना काव्य लिखा। परन्तु श्रीधरसेन नाम के वलभी में चार राजा हुए हैं, इनमें से आखिरी ६४१ ई० में मरा था। इस प्रकार यद्यपि हम भट्टि का काल ठीक-ठीक तो निर्धारित नहीं कर सकते, परन्तु उसकी निचली सीमा अवश्य प्रस्तुत कर सकते हैं। ६४१ ई० वही निचली रेखा है, जिसके पूर्व ही भट्टि रखा जा सकता है। बी० सी० मजूमदार ने इस भट्टि को मन्दसोर लेख का कवि वत्सभट्टि माना है, परन्तु नाम की एकता को छोड़कर दोनों कवियों में अन्य कोई समानता नहीं। मजूमदार महोदय इस बात को सर्वथा भूल गए हैं कि वत्स-भट्टि मन्दसोर के अपने प्रशस्ति-लेख में जहाँ व्याकरण की भद्दी भूलें करता है, प्रस्तुत भट्टि वहाँ न केवल व्याकरण का पण्डित ही है वरन् व्याकरणपरक ग्रन्थ भी लिखता है! इन बातों को देखते हुए भट्टि और वत्सभट्टि को एक नहीं माना जा सकता। हाँ, इसके साथ ही एक दूसरा विचार अवश्य उपस्थित हो जाता है। 'भट्टि' शब्द संस्कृत 'भर्तृ' का प्राकृत है। कोई आश्चर्य नहीं कि अनुश्रुति की परम्परा में यह नाम भर्तृहरि के नाम से मिल गया हो। उसी परम्परा के अनुसार कभी-कभी भट्टि भर्तृहरि का पुत्र या भाई भी माना जाता है। परन्तु इन नामों से भी शाब्दिक समानता के अतिरिक्त उनकी एकता में कोई अन्य बाह्य प्रमाण नहीं। एक बात स्पष्ट है कि भट्टि-काव्य ने माघ को काफ़ी प्रभावित किया है। 'शिशुपाल-वध' में उस महाकवि ने व्याकरण की अनेक

प्रक्रियाओं का प्रयोग किया है। निस्सन्देह भट्टि माघ का पूर्वकालिक कवि था। एक और बात ध्यान देने की यह है कि भट्टि का उल्लेख भामह ने किया है। अपने काव्य के अन्त में भट्टि लिखता है कि उसकी रचना व्याख्या द्वारा ही समझी जा सकती है—वह मतिमानों के लिए उत्सव है और मूर्खों के लिए शूल।

भामह ने भी ठीक इसी प्रकार के भावों के एक श्लोक का प्रयोग किया है। भट्टि ने अलंकारों की जो तालिका दी है वह कई अंशों में मौलिक है। यह प्रसंग तब विशेषतया स्पष्ट हो जाता है जब हम भट्टि को दंडी और भामह से मिलाते हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि 'भट्टिकाव्य' श्लेषात्मक है। इसका प्रयत्न द्विधा है। जहाँ यह व्याकरण की रचना है, वहीं इसका उद्देश्य राम की कथा कहना भी है। रूप में यह बाईस सर्गों में विभक्त है और इसके चार कांड हैं। पहले चार सर्गों तक व्याकरण के विविध नियमों का उल्लेख है। पाँचवें से नवें तक के सर्गों में प्रमुख विधान हैं और दसवें से तेरहवें तक के चार सर्ग काव्यालंकारों का निरूपण करते हैं। भारतीय आलोचकों ने भट्टि को महाकवि की उपाधि दी है। इसमें सन्देह नहीं कि एक पूरे काव्य को श्लेषात्मक रूप में लिखना यद्यपि पहले दर्जे के कवि का चमत्कार नहीं तथापि इस कार्य का सम्पादन नगण्य कवि द्वारा भी सम्भव नहीं। इसलिए भट्टि को कवि-परम्परा में उच्च स्थान देना ही उचित होगा। उसकी शैली में श्लेष होते हुए भी असमस्त पदों का प्रचुर समावेश है। नीचे के श्लोक उस शैली के उदाहरणस्वरूप उद्धृत किए जा सकते हैं। रावण सहायता के लिए कुम्भकरण के समीप जाकर उसे उत्तेजित करता है :—

नाज्ञासीस्त्वं सुखी रामो यदकार्षीत्स राक्षसान्
उदतारीदुदन्वन्तम्पुरं नः परितोऽरुधत्।
व्यज्योतिष्ट रणे शस्त्रैरनैषीद्राक्षसान्क्षयम्॥
न प्रावोचमहं किंचिदप्रियं यावदजीविषम्।
बन्धुस्त्वमर्चितः स्नेहान्माद्विषो न वधीर्मम॥
वीर्यस्मा न ददर्शस्त्वं मा न त्रास्थाः क्षताम्पुरम्।
तवाद्राक्षम वयं वीर्यं त्वमजैषीः पुरा सुरान्॥

उदाहरण से स्पष्ट है कि भट्टि की शैली अनलंकृत और साधारण है, असमस्त और सरल। परन्तु निश्चय ही उसमें वर्णरंजन का अभाव है। उसमें आभरण की क्षीणता स्पष्ट है। नीचे के उदाहरण में एक मुहाविरे का भी प्रयोग हुआ है—

रामोऽपि दाराहरणेन तप्तो वयं हतैर्बन्धुभिरात्मतुल्यैः।
तप्तेन तप्तस्य यथायसो नः सन्धिः परेणास्तु विमुञ्च सीताम्॥

कहीं-कहीं भट्टि में सुन्दर काव्य-प्रवाह भी मिल जाता है, जैसे :—

जलद इव तडित्वान्प्राज्यरत्नप्रभाभिः
प्रतिककुभमुदस्यन्निस्वनं धीरमन्द्रम्।
शिखरमिव सुमेरोरासनं हैममुच्चै-
र्विविधमणिविचित्रम्प्रोन्नतःसोऽध्यतिष्ठत्॥

परन्तु अन्य स्थलों पर भट्टि की शैली में प्रचुर शैथिल्य भी दृष्टिगोचर होता है।

भट्टि के काव्य में छन्दों का क्रम इस प्रकार है। श्लोक का प्रयोग अधिकतर हुआ है—विशेषकर चार से नवें और चौदह से बाईसवें सर्ग में। इन्द्रवज्रा की उपजाति शाखा पहले, दूसरे, ग्यारहवें और बारहवें में प्रयुक्त है। तेरहवें सर्ग में आर्या का गीति रूप मिलता है। पुष्पिताग्रा अधिकतर दसवें में प्रयुक्त हुई है। प्रहर्षिणी, मालिनी, वंशस्था, औपच्छन्दसिक और वैतालीय लगभग छः बार व्यवहृत हुए हैं और अश्वललित, नन्दन, नर्कुटक, पृथ्वी और रुचिरा केवल एक-एक बार। अन्य छन्दों में से निम्नलिखित का भी जहाँ-तहाँ प्रयोग हुआ है—त्रोटक, द्रुतविलम्बित, शार्दूलविक्रीड़ित, तनुमध्या, प्रमिताक्षरा, प्रहरणकलिका, मन्दाक्रान्ता और स्रग्धरा।

३. कुमारदास

कुमारदास का भी व्यक्तित्व अस्पष्ट है और उसके जीवन के सम्बन्ध में भी हमारा ज्ञान थोड़ा है। अनुश्रुति उसे कालिदास का मित्र मानती है। तदनुसार कालिदास सिंहल में मरे थे और मित्र-क्षय के फलस्वरूप कुमारदास ने सजीव चितारोहण किया था। पर इसमें सन्देह नहीं कि यह किम्वदन्ती सारहीन है।

कवि कुमारदास की रचना 'जानकीहरण' है, जो एक लम्बे काल तक उपलब्ध न था। इसका एक शब्दशः सिंहली अनुवाद मात्र प्राप्य था, परन्तु अब दक्षिण से एक संस्कृत पाठ भी उपलब्ध हो गया है। सिंहली अनुश्रुति के अनुसार कुमारदास इसी नाम का सिंहल का एक राजा था। कुमारदास नाम के एक राजा ने निस्सन्देह वहाँ सन् ५१७ से ५२६ ईस्वी तक राज्य किया भी था। परन्तु यह अनुश्रुति सिंहल में बहुत पुरानी नहीं ठहराई जा सकती। निश्चित बात यह है कि कुमारदास कालिदास की काव्यकला से काफ़ी प्रभावित हुआ था और उसने उस महाकवि की शैली और वस्तु-सामग्री का अनेक प्रकार से अनुकरण

किया है। इस वक्तव्य की सार्थकता 'जानकीहरण' के अनेक स्थलों का रघुवंश के बारहवें सर्ग से मिलान करने से स्पष्ट हो जाती है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि कुमारदास को 'काशिकावृत्ति' का ज्ञान था, जो ६५० ईस्वी के लगभग लिखी गई थी। इस प्रकार वह इस तिथि से पूर्व नहीं रखा जा सकता। फिर वामन को निश्चय ही कुमारदास का ज्ञान था। वामन ने कुमारदास के काव्य में मिलनेवाले 'खलु' शब्द के आरम्भ में प्रयोग की निन्दा की है। उसने जिस श्लोक को उद्धृत किया है, वह विद्वानों की सम्मति में 'जानकीहरण' के ही लुप्त भाग का है। इस कारण इसके कवि को वामन के समय अर्थात् लगभग ८०० ईस्वी के पूर्व ही रखना होगा। संभवतः कुमारदास माघ का पूर्ववर्त्ती था। उसके एक श्लोक की प्रतिध्वनि माघ के एक श्लोक में सुन पड़ती है। लगभग ६०० ईस्वी में होनेवाले राजशेखर ने कुमारदास की निम्न श्लोक में प्रशंसा की है:—

जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति।
कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमः॥

अपनी काव्य-मीमांसा में राजशेखर ने मेधाविरुद्र के साथ-साथ जानकीहरण के रचयिता कुमारदास को भी 'अन्ध' लिखा है। सम्भव है, राजशेखर का यह वक्तव्य सही हो।

राजशेखर की यह विज्ञप्ति कि रघुवंश के रहते जानकीहरण की रचना करना कुछ हँसी-खेल न था, प्रचुर अर्थ रखती है। एक ही वस्तु पर दो कवियों का लिखना उत्तरकालीन कवि के लिए एक समस्या खड़ी कर देता है, विशेषकर जबकि पूर्वकालीन कवि काव्य-शक्ति में प्रबल हो गया हो। जानकीहरण का रघुवंश से विषय-साम्य निस्सन्देह इसी प्रकार की एक समस्या उपस्थित करता है, परन्तु इससे इस कृति के रचयिता की प्रतिभा भी स्थापित हो जाती है। कुमारदास ने जिस कुशलता से अपने काव्य की 'वस्तु' का निर्वाह किया है वह सर्वथा सराहनीय है—विशेषकर इस कारण कि उसका पूर्ववर्त्ती कवि कालिदास की कोटि-का है। जहाँ-जहाँ गुंजायश हुई है, वहाँ-वहाँ कुमारदास ने नवीनता का भी सहारा लिया है और स्थान-स्थान पर उसका वर्णन काफ़ी मार्मिक बन पड़ा है। इस सम्बन्ध में जानकीहरण के कतिपय स्थलों का सिंहावलोकन आवश्यक होगा। परन्तु उससे पूर्व इस महाकाव्य के प्रबंध-प्रवाह पर एक दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा।

जानकीहरण बीस सर्गों में प्रणीत काव्य है। इसके पहले सर्ग में दशरथ, उनकी रानियों और अयोध्या का सुन्दर काव्यपरक वर्णन है। दूसरे में बृहस्पति रावण की साहसिकता का वर्णन करते हुए विष्णु से सहायता की प्रार्थना करते हैं। तीसरे में दशरथ अपनी रानियों के साथ प्रमदवन में विहार करते हैं। इस सर्ग में, किरातार्जुनीय की ही भाँति, स्वयं राजा दृश्यों का वर्णन करता है। फिर कवि जल-विहार का वर्णन करता है और राजा सूर्यास्त का। तदनन्तर रात्रि और सूर्योदय के सौन्दर्य-वर्णन हैं। चौथे सर्ग में दशरथ के पुत्रों का जन्म तथा विश्वामित्र के आश्रम में राक्षसी ताड़का के उपद्रव और अन्त में उसके वध का उल्लेख है। फिर पाँचवें में इस राक्षस-युद्ध का क्रम कुछ विस्तार से चलता है। छठा सर्ग मिथिला में जनक और विश्वामित्र के बीच खुलता है और सातवें में सीता और राम का मिलाप है। राम सीता के सौन्दर्य की सराहना करते हैं और कवि दोनों के प्रेम और विवाह का वर्णन करता है। आठवें सर्ग में राम-सीता के गार्हस्थ्य जीवन के कुछ मार्मिक स्थल वर्णित हैं। कुमारदास के सूर्यास्त और रात्रि-वर्णन अत्यन्त रोचक हैं। नवें की कथा अयोध्या में खुलती है और दसवें सर्ग में दशरथ राम का युवराज-तिलक करना चाहते और राजधर्म पर एक लम्बा अवतरण देते हैं, जिससे कथा-प्रवाह कुछ शिथिल पड़ जाता है। वनगमन और सीताहरण के प्रसंग इसी सर्ग के अन्तर्गत हैं। अगले सर्ग में काफ़ी वेग और शीघ्रता के साथ हनुमान और राम का साहचर्य, बालि का मदमर्दन आदि वर्णित हैं। फिर इसी में वर्षा का अत्यन्त रोचक वर्णन है। बारहवें सर्ग में शरद् का आरम्भ है। सुग्रीव और लक्ष्मण वाद-प्रतिवाद करते हैं और राम को सीता के विरह में विषाद होता है। यह प्रसंग जहाँ-तहाँ बदलता हुआ तेरहवें सर्ग तक चलता है। चौदहवें सर्ग में वानरों द्वारा समुद्र पर सेतुबन्धन का दृश्य है और अगले सर्ग में अंगद राम का दूत बनकर रावण की सभा में जाता है। सोलहवें सर्ग में राक्षसों और उनकी लंका का वर्णन है और शेष पाँच सर्गों (१७-२२) में राम की विजय का। इस प्रकार कुमारदास के जानकीहरण के प्रबन्धानुक्रम के वस्तुबन्ध में काफ़ी कुशलता है।

ऊपर कुमारदास पर कालिदास की शैली और वस्तु दोनों के ऋण की बात कही गई है। उस पर यहाँ कुछ विचार कर लेना युक्तिसंज्ञक होगा। कुमारदास ने भी कालिदास की भाँति वैदर्भी शैली का ही प्रयोग किया। एकाध विद्वान् कुमारदास की शैली को 'गौड़ी' भी मानते हैं। इनके अग्रणी श्रीनन्दार्गिकर हैं। परन्तु जानकीहरणकार की

शैली अधिकतर वैदर्भी ही प्रतीत होती है। कुमारदास ने अनुप्रास का अच्छा प्रयोग किया है, परन्तु यह प्रयोग काफ़ी संयत है। यमक का प्रयोग भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। नीचे एक उदाहरण दिया जाता है:—

अतनुनातनुना घनदारुभिः स्मरहितं रहितं प्रदिधक्षुणा
रुचिरभाचिरभासितवर्त्मना प्रखचिता खचिता नन दीपिता ॥

कहीं-कहीं तो कुमारदास काव्य-सौन्दर्य में बहुत ऊँचा उठ जाता है। उसकी शैली में अद्‌भुत विलास और ध्वनि और छन्द में एक अनुपम रमणीयता लहराने लगती है, रस बरसने लगता है। राम का बालपन कवि ने इस प्रकार चित्रित किया है:—

न स राम इह क्व यात इत्यनुयुक्तो वनिताभिरग्रतः।
निजहस्तपुटावृताननो विदधेऽलीकनिलीनमर्भकः ॥

निम्न उद्धृत श्लोकों पर कालिदास की स्पष्ट छाप है, फिर भी कुमारदास के गौरव पर किसी प्रकार का आघात नहीं होने पाता। इन श्लोकों की कमनीयता रस के साहित्य में अपना स्थान रखती है:—

पुष्पपल्लविभवैर्यथेप्सितं सा विभूषयति राजनन्दने।
दर्पणं तु न चकाङ्क्ष योषितां स्वामिसम्मदफलं हि मण्डनम् ॥

कालिदास का एक तत्प्रासंगिक वर्णन ठीक इसी प्रकार है—

आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी।
हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेशः ॥

इस प्रकार निम्नलिखित श्लोक पर भी कालिदास का प्रभाव प्रचुर है, फिर भी कुमारदास के हाथ से यह सुन्दर बन पड़ा है—

कैतवेन कलहेषु सुप्तया स क्षिपन्वसनमात्तसाध्वसः।
चोर इत्युदितहासविभ्रमं सप्रगल्भवखण्डितोऽधरे ॥

वितर्क का सुन्दर स्थल कुमारदास ने अपने एक श्लोक में उपस्थित कर दिया है, जिसमें उसने विधाता तक को नहीं छोड़ा है—

पश्यन्हतो मन्मथबाणपातैः शक्तो विधातुं न निमील चक्षुः।
ऊरू विधात्रा हि कृतौ कथं ताविथ्यास तस्यां सुमतेर्वितर्कः ॥

कुमारदास के दो और श्लोक उदाहरणतः दिए जाते हैं, जिनमें स्नेह और निसर्ग का वर्णन प्रचुर है। इनमें अन्त का श्लोक भारवि का स्मरण कराता है।—

प्रालेयकालप्रियविप्रयोगग्लानेव रात्रिः क्षयमाससाद।
जगाम मन्दं दिवसो वसन्तक्रूरातपश्रान्त इव क्रमेण ॥
वासन्तिकस्यांशुचयेन भानोर्हेमन्तमालोक्य हतप्रभावम्।
सरोरुहास्युद्धतकण्ठकेन प्रीत्येव रम्यं जहसे वनेन ॥

छन्दों का अनुक्रम और प्रयोग कुमारदास में काफ़ी पुष्ट है। इस विचार से वह कवि भारवि से दूर और कालिदास का समाश्रयी है। दूसरे, छठे और दसवें सर्ग में उसने श्लोक का प्रयोग किया है, ग्यारहवें में द्रुतविलम्बित, और तेरहवें में प्रमिताक्षरा का। इन्द्रवज्रा की उपजाति शाखा का उपयोग कुमारदास ने पहले, तीसरे और सातवें सर्ग में किया है और वंशस्था का पाँचवें, नवें, बारहवें और तीसरे में। वैतालीय चौथे और रथोद्धता आठवें में मिलते हैं। इनके अतिरिक्त जानकीहरण में शार्दूलविक्रीड़ित, वसन्ततिलका, अवितथ, शिखरिणी, स्रग्धरा, पुष्पिताग्रा, प्रहर्षिणी, मन्दाक्रान्ता और मालिनी का भी जहाँ-तहाँ प्रयोग हुआ है। कुमारदास माधुर्य और रस के प्रवाह में कालिदास के नितान्त समीप पहुँच जाता है।

४. माघ

माघ संस्कृत-साहित्य के महाकवियों में से एक है। पदलालित्य में इसकी जोड़ का दूसरा कवि नहीं—ऐसा संस्कृत के समालोचकों का मत है। माघ कौन था, यह कहना तो इतना सरल नहीं, परन्तु अन्य कवियों की अपेक्षा इस कवि ने अपने संबंध में कुछ वक्तव्य अधिक किया है। और यद्यपि हम उसके दिए हुए आँकड़ों से उसका चरित नहीं संकलित कर सकते, फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि कुछ अंशों में उसका कुछ भान हमें अवश्य हो जाता है। माघ के कथनानुसार उसके पिता का नाम दत्तक सर्वाश्रय था और उसके पितामह का सुप्रभदेव। सुप्रभदेव वर्मलात अथवा वर्मलाख्य नामक किसी राजा के अमात्य थे। कीलहार्न साहब ने वर्मलात नामक राजा के संबंध का एक शिलालेख छापा है, जो सन् ६२५ ईस्वी का है। माघ के पितामह सुप्रभदेव संभवतः इसी वर्मलात के मंत्री थे। इस दशा में माघ का समय प्रायः निश्चित हो जाता है और उसे सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हम रख सकते हैं। इस तिथि की अन्य बाह्य प्रमाणों से भी पुष्टि हो जाती है। माघ निस्सन्देह भारवि के बाद का कवि है। भारवि को उसने अपना आदर्श भी बनाया जान पड़ता है। भारवि के 'मुहुर्मुहुः' पर मानों माघ का संशोधन है—'किमु मुहुर्मुहुर्गतभर्तृकाः। माघ को 'काशिका वृत्ति' का भी ज्ञान है। इसके अतिरिक्त 'शिशुपालवध' के द्वितीय सर्ग के ११२वें श्लोक में काशिका के (टीकाकार) 'न्यासकार' जिनेन्द्रबुद्धि के प्रति स्पष्ट संकेत है। जिनेन्द्रबुद्धि का काल ७०० ईस्वी के लगभग है। माघ भी इसी समय

के आसपास हुए होंगे। माघ के उक्त संदर्भ की कुछ लोगों ने अन्य प्रकार से व्याख्या करने का प्रयत्न किया है, परन्तु उसका युक्तिसंगत अर्थ न्यासकारपरक ही लगता है। इससे माघ का काल अनुमानतः ७०० ईस्वी के आसपास ही रहा होगा। इस तिथि की प्रतिष्ठा कुछ और प्रमाणों से भी हो जाती है। माघ को हर्ष के 'नागानन्द' का निश्चित ज्ञान था। यह कहना कि माघ का अनुकरण वासवदत्ताकार सुबन्धु ने किया है, नितान्त अग्राह्य है। इसमें सन्देह नहीं कि माघ को वासवदत्तावाली कथा मालूम थी, मगर इससे सुबन्धु के अनुकरण की बात नहीं सिद्ध होती। वास्तव में सुबन्धु और माघ दोनों का आश्रय भास हो सकता है, जिसने वासवदत्ता के संबंध के तीन-तीन नाटक लिखे हैं। कथा-सार जानना एक बात है और अनुकरण करना दूसरी। कालिदास ने भी इसी प्रकार अपने 'मेघदूत' के 'उदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्' पद में वासवदत्ता की कहानी की ओर संकेत किया है। अतः माघ का समय ७०० ई० के लगभग मानना उचित होगा।

माघ का यश उसके महाकाव्य 'शिशुपालवध' पर अवलंबित है। यह ग्रन्थ संस्कृत-साहित्य के अमूल्य रत्नों में से एक है और इसी के कारण माघ कालिदास और भारवि के समकक्ष गिने जाते हैं। कुछ साहित्य-मर्मज्ञ तो माघ को कालिदास से भी ऊँचा मानते हैं। परन्तु इस महाकवि की शैली और काव्यगुणों पर विचार करने के पूर्व उसके काव्यप्रबन्ध पर एक दृष्टि डाल लेना अधिक उचित होगा। 'शिशुपालवध' का कथाप्रसंग महाभारत से लिया गया है। महाभारत की कथा में कृष्ण युधिष्ठिर को राजसूय का अनुष्ठान करने के लिए उत्साहित करते हैं। उस यज्ञ में भीष्म की सम्मति से कृष्ण को प्रमुख स्थान मिलता है। चेदिराज शिशुपाल इस कार्य के अनौचित्य पर बिगड़कर सभाभवन छोड़ देता है। युधिष्ठिर उसे मनाने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु कृष्ण की बड़ाई करते हैं। शिशुपाल सभा में विद्रोह का सूत्रपात करता है और यज्ञ नष्ट कर देने की चेष्टा करता है। युधिष्ठिर जब भीष्म की ओर देखते हैं तो भीष्म कृष्ण की पूजा और शिशुपाल की उपेक्षा करने की सलाह देते हैं। इस पर शिशुपाल भीष्म का अपमान करता है। भीष्म उसका प्रतिकार करते हुए याद दिलाते हैं कि कृष्ण शिशुपाल के सौ अपशब्दों को सहन करने के लिए उसकी माता के प्रति प्रणबद्ध हैं। इस पर शिशुपाल कृष्ण की निन्दा करता है। कृष्ण को वह अपनी वधू चुरानेवाला चोर और ग्वाल कहता है। कृष्ण अपशब्दों से आहत होकर शिशुपाल का मस्तक अपने चक्र से काट लेते हैं। इस महाभारत की कथा का माघ ने अपनी काव्यकला द्वारा काफ़ी परिमार्जन किया है। उसके प्रबन्ध का काव्य-प्रवाह महाभारत से कहीं तरल है।

अब किंचित् 'शिशुपालवध' के प्रबन्ध का दिग्दर्शन करें। उसके पहले सर्ग में ही माघ ने एक मनोहर परिवर्तन किया है। नारद इन्द्र की ओर से दूत बनकर वसुदेव के घर जाते और मानवों तथा देवताओं के शत्रु शिशुपाल का वध करने की कृष्ण से प्रार्थना करते हैं। कृष्ण उद्धव और बलराम से सम्मति लेते हैं। इस पर बलराम युद्ध की सलाह देते हैं और उद्धव युधिष्ठिर के राजसूय का निमन्त्रण स्वीकार करने की। इस संबंध में राजनीति की भी काफ़ी छान-बीन होती है। फिर कृष्ण द्वारका से इन्द्रप्रस्थ को प्रस्थान करते हैं। यह प्रसंग तीसरे सर्ग तक चलता है। चौथे सर्ग में रैवतक पर्वत का वर्णन है। पाँचवें सर्ग में स्कन्धावारों में ठहरी सेना का सुन्दर वर्णन है। छठे सर्ग के दृश्य बड़े सुन्दर हैं। सेना के साथ रानियाँ भी पालकियों पर सवार है और अनेक भद्र नारियाँ घोड़ों और खच्चरों पर आरूढ़! मार्ग में जल-विहार और प्रसाधन के मनोरम वर्णन माघ ने किए हैं। सातवें और आठवें सर्गों में अन्य यादव अग्रणी भी कृष्ण का अनुकरण करते हुए वन और जल में विहार करते हैं। यह प्रसंग शृंगार का अद्भुत वर्णन हमारे सामने रखता है और नवें सर्ग तक चलता है। दसवें में यादवों के आपान और रमण का वर्णन है। यादवों का मद्यपान प्रसिद्ध है। इसमें उनकी आसक्ति इतनी घनी थी कि उनका संहार भी अन्त में इसी कारण हुआ। महाकवि माघ उनके आपान और रमण-वर्णनों में नहीं थकता। ग्यारहवें में रजनी के अवसान के बाद सूर्यागम होता है और बारहवें में यादव-सेना यमुना पार करती है। तेरहवें सर्ग में कृष्ण इन्द्रप्रस्थ में प्रवेश करते हैं, जहाँ युधिष्ठिर उनका स्वागत करते हैं। अश्वघोष और कालिदास की भाँति राज-मार्ग पर जाते हुए कृष्णदर्शन के लिए लालायित नारियों को कवि प्रकोष्ठ-वातायनों में विक्षिप्त-सी ला खड़ी करता है। चौदहवें में कवि फिर महाभारत का सहारा लेता है, परन्तु उसका पदलालित्य महाभारतकार से कहीं स्वादुल है। इसमें कृष्ण की पूजा होती है। पन्द्रहवें सर्ग में शिशुपाल कृष्ण का विरोध और भीष्म से वाद-विवाद करता है, फिर

सभा छोड़कर युद्ध के निमित्त अपनी सेना प्रस्तुत करता है। सोलहवें में शिशुपाल का दूत युद्ध का संदेश लाता है। सात्यकि और उस दूत में कहा-सुनी होती है। दूत सगर्व उत्तर देता है। सत्रहवें सर्ग में दोनों सेनाएँ युद्ध के निमित्त बढ़ती हैं। अन्त में कृष्ण और शिशुपाल युद्ध करते हैं। शिशुपाल मारा जाता है (१६)।

कुछ भारतीय जिज्ञासुओं ने माघ में कालिदास और भारवि दोनों के गुणों का होना बताया है और दोनों से उसे विशिष्ट कहा है। इसे स्वीकार करना कठिन है। इसमें सन्देह नहीं कि माघ में पदलालित्य उच्चकोटि का है, परन्तु कालिदास की काव्य-कला के सम्मुख सचमुच ही वह सर्वथा विजित है। इतना ज़रूर है कि उसके अनेक स्थलों का सौन्दर्य भारवि में नहीं मिलने का—विशेषकर उसका प्रणय का रोमाञ्चक वर्णन तो स्तुत्य है। उसका वर्णन-वैचित्र्य, विलास-व्यंजना, पदध्वनि की झंकृति आदि भारवि में अप्राप्य हैं, फिर भी भारवि का अर्थगाम्भीर्य, उसकी शब्दशक्ति और गति की गुरुता माघ के बस की नहीं। दोनों ही वास्तव में अपने-अपने स्थान पर स्तुत्य हैं। माघ वात्स्यायन के 'कामसूत्र' के ऋणी हैं, जैसा वह अपने वर्णनों में स्वीकार भी करते हैं। परन्तु माघ इतना पद-लालित्य रखते हुए भी शाब्दिक बाजीगरी से अपने को न बचा सके। कालिदास को छोड़कर संस्कृत कवियों में बहुत कम ऐसे हुए हैं, जिन्होंने अपने को काव्य की कृत्रिम कलाबाज़ी से बचा पाया है। शिशुपालवध के उन्नीसवें सर्ग में इस शाब्दिक इन्द्रजाल का अच्छा उदाहरण मिलता है। वहाँ माघ सेना के व्यूह की उपमा सर्वतोभद्र, चक्र, गोमूत्रिका आदि छन्दों से युक्त महाकाव्य से देते हैं। निस्सन्देह माघ वहाँ सुरुचि से अत्यन्त दूर जा पड़ते हैं। श्लेष का प्रयोग संस्कृत कवियों ने बहुलता से किया है—स्वयं कालिदास इससे बरी नहीं हैं, परन्तु उस महाकवि की सुरुचि और कला की मर्यादा का ज्ञान उसे बचा लेता है। पर माघ और भारवि दोनों उस शृङ्खला में जकड़कर कभी-कभी अनर्थ कर बैठते हैं। फिर भी श्लेष पर जहाँ-तहाँ माघ ने सुन्दर आधिपत्य दर्शाया है।

नीचे के श्लोक में जिस पदलालित्य और स्वरझंकृति का माघ ने उद्घाटन किया है, वह संस्कृत में बेजोड़-सा है। केवल यही एक श्लोक कवि की सत्ता स्थापित कर देने के लिए पर्याप्त है—

सटाच्छटाभिन्नघनेन बिभ्रता नृसिंहसैंहीमतनुं तनु त्वया।
समुग्धकान्तस्तनसंगभंगुरैरुरोविदारम्प्रतिचस्करे नखैः ॥

नीचे के श्लोकों में 'सेना-यान' और युद्ध का अत्यन्त ओजपूर्ण और सशक्त वर्णन है—

आयान्तीनामविरतरयं राजकानीकिनीना—
मित्थं सैन्यैः सममलघुभिः श्रीपतेरूर्मिमद्भिः।
आसीदोघैर्मुहुरिव महद्वारिधेरापगानां—
दोलायुद्धं कृतगुरुतरध्वानमौद्धत्यमाजाम् ॥

सजलाम्बुधरारवानुकारी ध्वनिरापूरितदिन्मुखो रथस्य।
प्रगुणीकृतकेकमूर्ध्वकण्ठैः शितिकण्ठैरुपकर्णयाम्बभूव ॥

तूर्यारावैराहितोत्तालतालैर्गायन्तीभिः काहलं काहलाभिः।
नृत्ते चञ्चुःशून्यहस्तप्रयोगं काये कूजन्कम्बुरुच्चैर्जहास ॥

कश्चिन्मूर्छामेत्यगाढ प्रहारः सिक्तः शीतैः शीकरैर्वारणस्य।
उच्छ्वस्यासप्रस्थिता तं जिघृक्षुर्व्यर्थाकूता नाकनारी मुमूर्छा ॥

त्यक्तप्राणं संयुगे हस्तिनीस्था वीक्ष्य प्रेम्णा तत्क्षणादुद्गतासुः
प्राप्याखण्डं देवभूयं सतीत्वादाशिश्लेष स्वैव कञ्चित्पुरंध्री ॥

माघ ने कहीं-कहीं तो ऐसे स्थलों की अभिसृष्टि कर दी है, जो प्रसाद और भावगुरुता में साधारणतया अप्राप्य हैं। जिस शक्ति और गांभीर्य के साथ शिशुपाल कृष्ण का सभा में विरोध करता है, वह सर्वथा स्तुत्य है और माघ ने उसे अद्भुत काव्यकला से विभूषित किया है।

माघ के अलंकार बोझिल नहीं सरल हैं, उनके अनुप्रासों में शक्ति है। भाषा के प्रयोग में माघ असाधारण है, व्याकरण में वह है भट्टि-सा पण्डित। छन्दों के प्रयोग में भी वह कम कुशल नहीं है। साधारणतया श्लोक ही शिशुपाल-वध में प्रयुक्त हुआ है, विशेषकर दूसरे और उन्नीसवें सर्गों में। वंशस्था की उपजाति शाखा पहले और बारहवें सर्ग में मिलती है तथा इन्द्रवज्रा और उद्गाता क्रमशः तीसरे और पन्द्रहवें में। इसी प्रकार औपच्छन्दसिक का प्रयोग बीसवें, द्रुतविलम्बित् का छठे, पुष्पिताग्रा का सातवें, प्रमिताक्षरा का नवें, प्रहर्षिणी का आठवें, मञ्जुभाषिणी का तेरहवें, मालिनी का ग्यारहवें और रथोद्धता का चौदहवें में प्रयोग हुआ है। रुचिरा, वसन्ततिलका, वैतालीय और शालिनी क्रमशः सत्रहवें, पाँचवें, सोलहवें और अठारहवें में मिलती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य छन्दों का प्रयोग भी माघ ने किया है, जैसे स्वागता, गीति, उत्सर, कल[illegible]म, चित्रलेखा, जलधरमाला, जलोद्धतगति, तोटक, दोधक, धृतश्री, पृथ्वी, प्रभा, प्रमदा, भ्रमरविलसित, मञ्जरी, महामालिका, वंश-पत्रपतित, वैश्वदेवी, शिखरिणी, स्रग्धरा, स्रग्विणी, हरिणी, मत्तमयूर, मन्दाक्रान्ता, और शार्दूलविक्रीड़ित। इतने छन्दों का एक ग्रन्थ में प्रयोग शायद अन्य किसी कवि ने नहीं किया। इससे माघ का उन पर अधिकार स्पष्ट है।



अमेरिका के आदिम निवासी—(१)

नई दुनिया के सुविशाल भूखण्डों में बसनेवाली अगणित आदिम जातियों का इतिहास दीर्घकालिक होने पर भी आज हमें केवल टूटी शृंखला के रूप में ही उपलब्ध है। श्वेत जातियों के सम्पर्क में आकर उन्होंने अपना बहुत-कुछ गँवा दिया है और आज वे लुप्तप्राय हो रही हैं। उनकी पूर्वकालीन विशिष्ट सभ्यता को स्वार्थरत विजेताओं ने निर्मूल कर डालने में कोई कसर बाक़ी नहीं रखी। अमेरिका-महाद्वीप के विभिन्न भूभागों में आज के दिन उन जातियों के मुट्ठीभर प्रतिनिधि वनवासियों और ख़ानाबदोशों का जीवन व्यतीत करते दिखाई देते हैं। और अपने पूर्वजों के जीर्ण-शीर्ण गौरव-स्मारकों के द्वारा ही वे हमें अपने भूतकाल का कुछ-कुछ आभास दे पाते हैं। उन अभागे प्राणियों का रोमांचक इतिहास अतीत के आवरण में छिपा हुआ है और मानव-विज्ञान के आचार्यों के लिए अनुसंधान और खोज का वह एक महत्त्वपूर्ण विषय बना हुआ है।

पृथ्वी के अनेक महत्त्वपूर्ण अनुसंधानों की भाँति अमेरिका के भूभागों की सबसे पहली खोज का कार्य्य भी वहाँ के प्राथमिक उपनिवासियों द्वारा ही सम्पन्न हुआ होगा। अनुमानतः किसी एशियाई बंजारे या 'कोलम्बस' जैसे किसी अज्ञातनामा अपरिचित साहसी व्यक्ति ने प्रागैतिहासिक युग में ईस्टकेप, साइबेरिया और अलास्का के मध्यवर्त्ती सागर की पतली पट्टी को पार करके यहाँ की भूमि पर पहलेपहल पदार्पण किया होगा। उस युग में या तो सागर का वह भाग बर्फ़ से ढका रहा होगा, जिसे पाँव-पैदल चलकर पार करना कठिन न रहा होगा, अथवा उन लोगों ने खाल की बनी डोंगियों या नौकाओं का ही आश्रय लिया होगा, जैसा कि आज भी प्रायः एस्किमो जाति के प्रतिनिधियों में प्रचलित देखा जाता है।

उत्तरी अमेरिका के वे प्राथमिक निवासी धीरे-धीरे दक्षिण की ओर बढ़ते गए और उनके वंशजों ने अधिक उपजाऊ भूभागों तथा अनुकूल जल-वायुवाले प्रदेशों में प्रवेश किया। आहार की खोज में भटकनेवाले उन अहेरियों को यह सुविस्तृत अक्षत भूमि अवश्य ही स्वर्ग-तुल्य प्रतीत हुई होगी। मार्ग-अवरोध करनेवाले शत्रुओं के अभाव में इन आगन्तुकों की लहरों की वह सर्वप्रथम ऊर्मि-धारा असाधारण गति से फैलकर बह चली होगी। "अमेरिंडों" अथवा अमेरिकन-इंडियन जातियों के पूर्वजों का यह आगमनकाल ४०००-५००० ई० पू० माना जाता है, यद्यपि इस विषय में विद्वानों में परस्पर मतभेद है। सच पूछा जाय तो अमेरिका के आदिम-निवासियों का सर्वप्रथम आगमन-काल प्रमाणों के अभाव में आज तक अनिश्चित ही है। खुदाई में भूगर्भ से निकले पत्थर के भद्दे और अधूरे औज़ारों व शरीर के ढाँचों से भी इस संबंध में कुछ ठीक पता नहीं लगता।

कालान्तर में इन आगन्तुकों के वंशजों का इतना विस्तार हुआ कि जिस समय योरप से श्वेताङ्गों का यहाँ आगमन हुआ, उस समय उन लोगों ने उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के महाद्वीपों के अतिरिक्त पास-पड़ोस के टापुओं में भी आर्कटिक-तट से लेकर टिएरा-डेल-फ्यूएगो के छोर तक इनका आधिपत्य देखा। सोलहवीं शताब्दी में योरपीय जातियों के आक्रमणों से पहले, सहस्रों वर्षों की लम्बी अवधि में इन प्राथमिक आगन्तुक एशियाई अहेरियों के वंशजों ने उच्च कोटि की सभ्यताओं के विकास में अद्वितीय सफलता प्राप्त कर ली थी। उनकी कार्यक्षमता के चमत्कारों के आगे पुरानी दुनिया की आरंभिक सभ्यता की देन भी फीकी पड़ जाती है।

हिमाच्छादित आर्कटिक-तट के निवासी, बर्फ़ के घर बनाकर रहनेवाले, रोएँदार-पशु-चर्मधारी एस्किमो से लेकर अमेज़न नदी और उसकी शाखाओं से सिक्त प्रदेश के उष्ण सघन वनों के भीतर खजूर की पत्तियों की कुटिया में आवास करनेवाले नग्न बर्बरों तक उन आदिम निवासियों ने अपने

को प्रकृति और स्थानीय वातावरण के अनुकूल बनाने के अगणित प्रमाण प्रदर्शित किए। प्रत्येक दशा में इन लोगों ने प्रकृति के रहस्यों को जानकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के हेतु उनसे काम लेना सीख लिया था। 'शोशोनी' जाति के आदिम व्यक्तियों के विचरणशील दलों ने 'महान् तरेटी' (Great Basin) की शुष्क मरुभूमि के बिखरे हुए कँटीले पौधों को ही अपना आहार बनाया। उन्होंने स्थानीय जल-प्रपातों और स्रोतों की स्थितियाँ जान लीं और घास के टिड्डों, पतिंगों तथा झीलों के कीटडिम्बों को पकड़ना सीख लिया। तेज़ दौड़नेवाले शशकों को पकड़ने के लिए वे जाल बनाने लगे और झाड़ियों व घास-फूस के द्वारा अपने रहने की झोपड़ियाँ तैयार करने की कला भी उनको ज्ञात हो गई। आवश्यकताओं की पूर्त्ति की चेष्टा में उनको क्रमशः ज्ञान की भी प्राप्ति होती गई। उन सीधे-सादे मानव-समूहों की समाज-व्यवस्था का आधार केवल कुटुम्ब ही था—उसी पर उनकी समाज की भित्ति प्रस्थपित थी।

धीरे-धीरे इनमें जातियाँ और उप-जातियाँ बनती गईं और समय बीतने पर उनमें विशुद्ध और वर्णसंकर वर्ग-उपवर्गों का विभाजन हुआ। अमेरिका महाद्वीपों के उन आदिम निवासियों की अनेक जातियों तथा उपजातियों के नाम इस प्रकार विद्वानों द्वारा प्रकट किए जाते हैं—अल्गोन, कुइ-आन, हुरोन, इरोकुओई, डाकोटा या सिओयुक्स, अथाबा-स्कन्, शोशोनी, पानी, मुस्कोगी, चेरोकी, अपाचे, मोकुई, पुएब्लो, चेयेन्ने, चिबका, चाको, पाएज़े, कोकोनुको, बारें, अरावाक, कारिब, वर्रायू, बेतोये, क्यूरेतू, कुइतू, जिवारो, ज़ापारो, यून्का, कुइचुआ (इन्का), हुआन्का, अयमारा, ऐन्तसुयू, चिन्चासुयू, तिना, मोजो, चिकुइतो, ताकाना, गुआरानी, तूपी, गेस, जुरी, बोतोकुदोस, बोरोरो, पुरुस, काराबुयाना, अरायूकानियन, पुएल्चे, तेहुएल्चे, ओना, यहगन, अलाकलुफ़, पायागुआ, चारुआ, अबीपोने, लूले, माताको, मोकोबी, तोबा, गुआयकुरु, मय-कुइचे या हुआ-क्सतेकन, इरज़ा, लकैन्दन्, नाहुआन, ऐज़तेक, पिपिल, निकुईरन्, गुआईकुरन्, ओपातापीमा, ताराहुमारा, तिन्ने, सेरी, तारस्कान, मल्लालज़िन्का, ओतोमी, ज़ोकुए-मिक्से, मिक्सतेको, जपोतेक्, हुआवे, चोरोतेगन, लेंकन या चोन्तल, तालामंका, क्यूना और कुएवे आदि। इन सभी जातियों का यदि पूर्ण परिचय दिया जाय तो एक बहुत बड़ा ग्रन्थ तैयार हो सकता है। प्रस्तुत लेख में हम कुछ विशेष जातियों का उल्लेख करेंगे, जिनकी शाखाएँ और उपशाखाएँ पूर्वकथित भेद-विभेदों के साथ अमेरिका में विस्तृत हुईं।

जिस समय अमेरिका की भूमि पर सर्वप्रथम पदार्पण करनेवाली आदिम जातियों के कुछ प्रतिनिधि आहार और आवास की खोज में चेष्टारत होकर अब भी प्रकृति से संघर्ष ही कर रहे थे, उसी युग में गुआतिमॉलॉ के पर्वतीय पठारों, मोतागुआ नदी की वनाच्छादित उष्ण तरेटियों और युकेतॉन-प्रदेश की कंटकाकीर्ण भूमि पर मय जाति की उस महान् सभ्यता के उद्भव और विकास का आरम्भ हो रहा था, जिसकी अवधि १६०० वर्षों की मानी जाती है। इसी भाँति पैसिफ़िक महासागर-तटवर्ती शुष्क मरुस्थली तथा ऐन्डीज़ पर्वतों के नग्न, ठंढे, पठारों में प्राचीन पेरू की इन्का-जातीय विशिष्ट सभ्यता और संस्कृति ने भी कालान्तर में असाधारण उन्नति की। दूसरी ओर, स्पेनवालों के आगमन से कुछ पहले, मेक्सिको की हरी-भरी उपत्यका में, ऐज़्तेक-जाति ने एक परम शक्तिशाली सैनिक-राष्ट्र का निर्माण करने में सफलता प्राप्त की। जहाँ-जहाँ योरपीय अनुसंधानकारियों ने शुरू में क़दम रखे, वहीं उनको आदिम निवासियों की सांस्कृतिक विभिन्नता और वातावरण के अनुकूल बनने की क्षमता का परिचय प्राप्त हुआ।

यह विभिन्नता, अत्यन्त प्रभावोत्पादक रूप में भाषाओं और बोलचाल के अन्तर द्वारा स्पष्ट होती गई। अकेले मेक्सिको के उत्तरी भाग में ही, श्वेतांगों के प्रवेश के समय ५० असंबद्ध भाषाएँ बोलनेवाले वर्ग थे और कम-से-कम ७०० पृथक् उप-भाषाएँ प्रचलित थीं, जो एक दूसरे से उसी प्रकार भिन्न थीं जैसे अंग्रेज़ी भाषा फ्रेंच व जर्मन भाषाओं से भिन्न है। भाषा की दृष्टि से शब्द-कोषों और व्याकरणों की नियम-विभिन्नता भी इन जातीय वर्गों में पूर्णरूपेण पाई जाती थी। इससे स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न नस्लों के असंख्य मनुष्य दीर्घकाल तक परस्पर पृथक् रहकर अमेरिका के इस भूभाग में जीवन-यापन करते रहे।

नई दुनिया के इन भूभागों में ध्वनिसूचक लेखनकला का विकास न होने के कारण अधिक समय तक किसी भी स्थानीय भाषा को स्थायित्व प्रदान करने की सम्भावना नहीं रही। अमेरिका की सभी देशी भाषाएँ सूक्ष्म विचारों और अन्तर्दर्शी अर्थ-सूचक अवश्य थीं। प्रयोक्ताओं के अनुभवों के अनुरूप ही उनका शब्द-भांडार रचा गया था और उनकी व्याकरण-शैली दुरूह होने पर भी नियमित थी।

भाषाओं के अनुसार इंडियन जातियों के मुख्य वर्गों में, मेक्सिको के उत्तरी भूभागों में "एस्किमाउआन्", जो समस्त आर्कटिक-तट को समेटे हुए अलास्का से ग्रीनलैंड तक फैले हैं; "अथापास्कान्", जिनमें अलास्का और

हडसन की खाड़ी के पश्चिम में भीतरी कनाडा तक का अधिकांश भाग बँटा हुआ है और जो पुनः एरिज़ोना, नव-मेक्सिको व पश्चिमी टेक्सास् में प्रकट होते हैं; "अलगोन्क्विइन" जो दक्षिणी कनाडा के आरपार रॉकी-पर्वतों से अटलान्तिक महासागर तक, 'ग्रेट लेक्स' के दक्षिण में टेनेस्सी प्रदेश तक बढ़े हुए हैं, तथा "इरोक्वुओइआन्", जिनमें सेंट लारेन्स नदी की उपत्यका, एरी व आन्टेरिओ झीलों के आसपास का प्रदेश दक्षिण में उत्तरी जार्जिया तक सम्मिलित है, अपना विशेष स्थान रखते हैं।

"शोशोनियन" वर्ग में "ग्रेट बेसिन" का प्रदेश और उत्तरी टेक्सास तथा "सिओ-युआन" में "विशाल मैदानों" और कैरोलिना व वर्जीनिया के कुछ भूभाग बँटे हुए हैं। इनके अतिरिक्त "मुस्खोजियन" वर्ग का विस्तार मिस्सिसिपी की अधिकांश रियासतों, अल्बामा, जार्जिया और फ़्लोरिडा तक माना जाता है। बहुतेरे छोटे-छोटे वर्ग भी हैं, जिनका अस्तित्व पैसिफ़िक-तट पर पारस्परिक विभिन्नता के साथ दिखाई देता है और जिनको उत्तरी अमेरिका के मानचित्र पर जहाँ-तहाँ बिन्दुओं के रूप में अंकित किया गया है।

आइए, अब हम इंडियन जाति के मनुष्यों के रंग-रूप और व्यक्तित्व पर भी विचार करें। नई दुनिया के दोनों महाद्वीपों में यत्र-तत्र वे दिखाई देते हैं, किन्तु उनमें से अधिकांश वर्णसंकर ही प्रतीत होते हैं। श्वेतांगों के सम्पर्क से इंडियन स्त्रियों के जो सन्तानें उत्पन्न हुईं वे रहन-सहन, रंग-रूप में विशुद्ध इंडियनों से सर्वथा भिन्न हैं। सामूहिक



एक अमेरिकन रेड इंडियन सरदार
इसकी अद्भुत वेशभूषा पर ग़ौर कीजिए!

रूप में यदि देखा जाय तो इन लोगों की आकृतियों में उतना अन्तर नहीं मिलता जितना कि उनकी संस्कृति और सभ्यता में पाया जाता है।

साधारणतया सभी अमेरिकावासी इंडियनों को मंगोल-वर्ग से संबंधित माना जा सकता है, जिसके अन्तर्गत पूर्वी एशिया के लोग गिने जाते हैं। सभी इंडियनों के केश सीधे या किंचित् घुँघराले कृष्ण-वर्ण, आँखें भूरी, और शरीर का रंग गहरा (कुछ कालापन लिये) होता है। नई दुनिया की विभिन्न उप-जातियों में शारीरिक रंग की विभिन्नता कुछ अंशों में अवश्य मिलती है। सबसे मुख्य अन्तर चेहरे की बनावट, शिर के आकार और क़द में होता है। पूर्वी यूनाइटेड स्टेट्स और "विशाल मैदानों" के इलाक़ों के निवासी रेड इंडियन साधारणतया लम्बे और हृष्टपुष्ट तथा गृद्ध-चंचु जैसी नाकवाले (जो इंडियन जाति की विशेषता मानी जाती है) हुआ करते थे। दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी व दक्षिणी प्रदेशों में आज भी अल्प संख्या में ऐसी आकृतियों वाले आदिम निवासी दिखाई देते हैं। इसके विपरीत मेक्सिको, मध्य-अमेरिका तथा अमेज़न की तरेटी में रहनेवाले इंडियन क़द में अपेक्षाकृत नाटे, रंग में अधिक गहरे और चौड़ी तथा चिपटी नाकवाले होते थे।

अमेरिका की कुछ आदिम जातियों को एक तरह के लाल रंग या गेरू से अपना शरीर रँगने का बड़ा चाव था, जिसके कारण विदेशों से आनेवाले प्रारम्भिक यात्रियों ने उन्हें देखकर "रेड स्किन्स" या "लाल चमड़ीवालों" की उपाधि दे दी और इसी उक्ति के आधार पर यह भ्रम-मूलक विचार फैल गया कि इंडियन जाति के व्यक्तियों की चमड़ी का रंग स्वाभाविक लाल या ताम्र-वर्ण का होता है। वास्तव में, उनका रंग पीलापन लिये हुए गोरा और न्यूनाधिक अन्तर के साथ मटमैला देखा जाता है। किसी-किसी प्रदेश के इंडियन भूरे तथा गेहुएँ रंग के भी होते हैं। स्थानीय वातावरण का उनके त्वचा-वर्ण पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है, जिसके परिणामस्वरूप काले रंग के इंडियन भी कहीं-कहीं दिखलाई पड़ते हैं।

उत्तरी अमेरिका की आदिम जातियों का उल्लेख करते समय पाश्चात्य विद्वानों ने उनको तीन श्रेणियों में विभाजित किया है—पहली श्रेणी में "बैकउड्स और अटलांटिक तट पर रहनेवाले", दूसरी में "मैदानों के रहनेवाले" और तीसरी में "रॉकी पर्वतों तथा पैसिफ़िक तट के निवासी"। पहली श्रेणी में आनेवाली इंडियन जातियों के लोग वृक्षों की छाल के त्रिकोणाकार तम्बू बनाकर उनमें रहते थे। दूसरी श्रेणी के लोग भैंस की खालों के घरों में रहते थे और मुख्यतया खानाबदोशों की भाँति एक स्थान से दूसरे स्थान पर मारे-मारे फिरा करते थे। उन्होंने स्पेनवासियों का आक्रमण होने पर अल्पकाल में ही आक्रमणकारियों की देखादेखी घुड़सवारी में दक्षता प्राप्त कर ली थी। तीसरी श्रेणी में आनेवाली जातियों में खानें खोदनेवाले दीनहीन श्रमिकों से लेकर अपेक्षाकृत सभ्य 'प्यूएब्लो' अर्थात् नागरिक इंडियन संमिलित हैं। ये लोग अपने रहने के लिए ऊँची-ऊँची पत्थर और ईंटों की इमारतें बनाया करते थे, जिनके भग्नावशेष आज भी पाये जाते हैं। उन्हें देखकर इन लोगों की स्थापत्य-कुशलता पर आश्चर्य करना पड़ता है। पहाड़ों पर सुविशाल दुर्गों की भाँति सुदृढ़ और भव्य प्रासादों का निर्माण करनेवाली उन आदिम जातियों के मुट्ठीभर वंशज आज भी वर्तमान हैं, जो भवन-निर्माण-कला में अपना सानी नहीं रखते।

स्थानीय भाषा और मिलती-जुलती बोली की दृष्टि से इंडियन जातिवालों के निम्नलिखित प्रमुख वर्ग माने जाते हैं—अल्गोनक्विन—जिनकी बस्तियाँ समस्त उत्तरी अमेरिका में दूर-दूर तक फैली हुई थीं; हुरोन-इरोक्वोई—जो बड़े शूर-वीर और लड़ाके होते थे तथा बड़ी-बड़ी झीलों के आस-पास बसे हुए थे; डाकोटा या सिओयुक्स—जो मध्यवर्ती मैदानों के निवासी थे; अथाबास्कन—जिनकी आवासभूमि पश्चिमी प्रदेश माना जाता है; शोशोनी और पॉनी—जो अथाबास्कन जातिवालों के पड़ोसी थे; मस्कोगी या क्रीक इंडियन—जो दक्षिणी प्रदेश में रहते थे और अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक सभ्य कहे जाते थे। इन सभी वर्गों के व्यक्तियों में परस्पर न्यूनाधिक अन्तर था। सारे महाद्वीप में, उस आदिम युग में, एक छोर से दूसरे छोर तक अनेक प्रकार की सभ्यताओं और संस्कृतियों का विकास हो रहा था, जिनमें से आगे चलकर मेक्सिको-वासी ऐज़्तेक-जैसे शक्तिशाली राष्ट्रों ने जन्म लिया।

दक्षिणी और मध्य अमेरिका की आदिम जातियों के आरंभिक इतिहास के विषय में अधिक पता नहीं चलता। सर्वप्रथम स्पेन के कुछ साहसी यात्री वहाँ आए और उनके कथनानुसार हमें ज्ञात होता है कि समुद्र-तटों, जंगलों, पहाड़ों और समतल मैदानों में सर्वत्र ऐसी आदिम जातियों की बस्तियाँ थीं, जिनकी रहन-सहन नीचे दर्जे की और पशुओं-जैसी थी। सम्भव है कि जातीय द्वेष के कारण ही इन लोगों ने उनके बारे में ऐसी धारणा की हो, क्योंकि वे स्वीकार करते हैं कि "विषैले बाणों से आगन्तुक विदेशियों पर वहाँ के लोग आक्रमण

करते थे और उनको पराजित कर पाना कठिन था। वे घनी झाड़ियों और वृक्षों की आड़ से छिपकर शत्रुओं से लड़ते थे और पीछा करने पर भी हाथ न आते थे। वे लम्बे-लम्बे बाँसों के चोंगों से फूँक मारकर बाण चलाते थे और उनके निशाने बहुत कम चूकते थे। उनका यह शस्त्र बड़ा ही भयंकर था और इसकी मार से बचना कठिन हो जाता था, क्योंकि इसका प्रयोग करने में न किसी प्रकार का शब्द होता था और न बाण चलने की आहट ही मिलती थी। ये लोग अपने शिकार को फँसाने में "लासो" नामक रस्सियों के एक फंदे का प्रयोग करते थे और उसे फेंकने में अत्यधिक निपुण थे। एक और अस्त्र, जिसका प्रायः वे व्यवहार करते थे, "बोला" कहलाता था। इस अस्त्र में रस्सी के एक छोर पर पत्थर का एक भारी गेंद बँधा रहता था, जिसे तेज़ी से घुमाकर वे शत्रु को लक्ष्य कर फेंकते थे। यह "बोला" एक भीषण हथियार था और इसको अधिक भयंकर बनाने के लिए कभी-कभी वे लोग छोटी-छोटी रस्सियों में पत्थर के कई छोटे-बड़े गेंद बाँधकर उन रस्सियों को बड़ी रस्सी से संयुक्त कर लेते थे। "बोला" के फेंकने की कला में ये लोग पूर्णतया दक्ष थे।

इसमें सन्देह नहीं कि स्पेनिश आक्रमणकारियों के आग्नेय शस्त्रों के आगे इन बेचारे आदिम निवासियों की सदा पराजय ही होती थी, परन्तु अवसर पाकर वे अनेक युक्तियों से अपने शत्रुओं से बदला भी लिया करते थे। घुड़सवारी उन्होंने अपने गोरे शत्रुओं से ही सीखी थी और अल्पकाल में ही इस कला में असाधारण दक्षता प्राप्त कर ली थी। थोड़े ही वर्षों में वे शत्रुओं पर लुकछिपकर आक्रमण करने और घोड़ों पर चढ़कर भाग निकलने की सारी युक्तियों के जानकार हो गए थे। स्पेनवालों की बस्तियों पर हमला करने का उनका ढंग भी बड़ा ही विचित्र होता था। वे बहुत-से घोड़ों को कई रस्सियों में बाँधकर अपने आगे-आगे भगाते थे और शत्रुओं को उनकी टापों से कुचलकर मार डालने की चेष्टा करते थे। इस भगदड़ में जो इधर-उधर भागने की चेष्टा करता वह उनके विषैले बाणों का लक्ष्य बनता। परन्तु प्रायः एक शताब्दी तक विदेशियों से लड़ते रहने के बाद भी उनकी पराजय ही हुई और वे वन में भाग जाने को बाध्य हो गए। अपनी आवासभूमि की रक्षा में इन लोगों ने लाखों की संख्या में अपनी जानें गँवाईं, परन्तु अंत में उनका देश स्पेनिश आक्रमणकारियों ने जीत ही लिया।

अधिकांश में, श्वेत जातियों के सर्वप्रथम प्रतिनिधियों के साथ अमेरिका की इंडियन जाति के लोगों ने अच्छा व्यवहार किया और जो कुछ उन्होंने चाहा वह उन्हें बिना मूल्य दिया गया अथवा परिवर्त्तन में साधारण वस्तुएँ लेकर बेच डाला गया। पर जब उनको आगन्तुकों की स्वार्थपरता, इस देश पर अधिकार करने की निश्चित अभिलाषा और ठगी का पता चला तो ये लोग सतर्क हुए और अपनी आत्मरक्षा तथा देश-रक्षा के लिए कटिबद्ध हुए। फिर तो चालाकी और उद्दण्डता से उन्होंने शत्रुओं को मारना अपने जीवन का संकल्प बना लिया, जिसके फलस्वरूप सामूहिक रूप में विदेशियों का विनाश होने लगा। पर उनके पास तोपें और बन्दूकें नहीं थीं, अतएव स्पेनिश आक्रमणकारियों द्वारा भी वे बुरी तरह मौत के घाट उतारे जाने लगे। यहाँ पर यह बतला देना आवश्यक है कि अमेरिका की भूमि पर पदार्पण करनेवाले उन स्पेनवासियों में अधिकांश व्यक्ति डाकू और परले सिरे के बदमाश ही थे, जो अपने अपराधों के कारण राज्य के कोपभाजन बनकर स्पेन से भाग खड़े हुए थे और छोटे-मोटे जत्थों के साथ लूटमार करने व देशों को जीतने की भावना लेकर नई दुनिया में आ बसे थे। ये बन्दीगृहों के कीड़े, शराबी, जुआखोर, आवारे, विदेश में भाग्यपरीक्षा करने वाले सैनिक, मल्लाह तथा बरकन्दाज़ लोग अपनी समस्त



अमेरिका में आज के दिन पाए जाने वाले इंडियनों के बचे-खुचे प्रतिनिधियों में से एक। यह बुढ़िया कैसे मज़े से सिगरेट पी रही है!

उच्छृंखलता, वासना और रक्त-लिप्सा लेकर उन सीधे-सादे इंडियन लोगों की आवास-भूमि को श्मशान बना उसमें अपने अत्याचारों का ताण्डव करते हुए स्वच्छंद विचरने लगे। उन्होंने आग्नेय शस्त्रों की सहायता से उन निरीह मानवों के रक्त की मनमानी होली खेलकर उनको दासता की शृंखलाओं में जकड़ दिया और अपनी स्वार्थसाधना में संलग्न उन श्वेतांगों ने अपने सैकड़ों उपनिवेश, जागीरें, ज़मींदारियाँ और राज्य वहाँ स्थापित कर डाले। अकारण ही निरपराध इंडियन स्त्री-पुरुषों और बच्चों की सामूहिक हत्याएँ उन्होंने कीं, जिनका उद्देश्य केवल मनोविनोद या धार्मिक बर्बरता ही रहा होगा! नैतिक आचरण में गिरे हुए व्यक्तियों से और आशा ही क्या हो सकती थी!

थोड़े ही वर्षों बाद अपना सारा ऐश्वर्य खोकर इन दीनहीन, पराजित, अभागे इंडियन लोगों की सहस्रों टोलियाँ विजेताओं का दासत्व स्वीकार कर उनके जूठे टुकड़ों पर अपना जीवनयापन करती दिखाई देने लगीं। उनसे जी-भर बेगार ली जाती थी और बात-बात में उन पर कोड़ों की मार पड़ती थी। विजेताओं की दृष्टि में उनके प्राणों का कुछ भी मूल्य न था। वे कीट-पतंगों से भी गई-बीती ज़िन्दगी बिताने को बाध्य कर दिए गए थे। उन्हें सोने की खानों में काम करना पड़ता था। धीरे-धीरे लाखों की संख्या में वे मरने लगे, किन्तु नए-नए दास पकड़कर लाने का क्रम विजेताओं ने बराबर जारी रखा और उस शोषण-नीति द्वारा वे दिनोंदिन सम्पन्न होते रहे। इन आक्रमणकारियों के अमानुषिक अत्याचार की वह रक्तरंजित कहानी बड़ी ही विषम है, जिसका उल्लेख कुछ भावुक विदेशी यात्रियों ने अपने संस्मरणों में किया है। उनका आँखोंदेखा वर्णन पढ़कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं और हमें संदेह होने लगता है कि वे स्पेनिश आक्रमणकारी मनुष्य थे या राक्षस! सुनने में आया है कि जंगलों के नरभक्षी असभ्य जातियों के लोग भी उन नरराक्षसों का मांस खाने से घृणा करते थे! इस प्रकार अमेरिका की आदिम जातियों के समूचे वंश और परिवार निर्मूल होते गए और कालान्तर में उनकी संख्या बहुत ही कम हो गई।

विद्वानों का अनुमान है कि पूर्वकाल में आदिम इंडियनों की सबसे घनी बस्तियाँ और उपनिवेश दक्षिण-पूर्वी इलाक़ों में थे तथा मिस्सीसिपी नदी के पूर्व में और कैलिफ़ोर्निया में भी उनकी संख्या बहुत अधिक थी। कारण यह था कि उन भूभागों में आहार की प्रचुरता थी और वहाँ की जलवायु भी अनुकूल थी। कई शताब्दियों की अवधि में, जब इंडियन जातियों के पारस्परिक लड़ाई-झगड़ों के फलस्वरूप सहसा उनकी प्रगति और विस्तार में बाधाएँ पड़ने लगीं, तब वे उक्त प्रदेशों को छोड़कर और आगे बढ़ने और फैलने लगे। इस भाँति इन साहसी मनुष्यों ने नई दुनिया को खोजकर उसे बसाया और अपनी मौलिक सभ्यताओं और संस्कृतियों का वहाँ विकास किया। ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में "नार्समेन" कहलानेवाले योरपीय आक्रमणकारियों ने अमेरिका के उस इलाक़े में, जो न्यूइंग्लैंड के नाम से प्रसिद्ध है, उतरकर जिन असभ्य आदिम जातियों के मनुष्यों को देखा था, उनके विषय में लिखे हुए विवरण से पता चलता है कि वे अल्गोनक़ुइऑन जाति के इंडियन थे, जिनके रस्मरिवाज आगे की कुछ शताब्दियों तक भी न बदल सके।

"नार्समेन" लोगों के कथनानुसार इंडियन जातियों के व्यक्ति भारी डीलडौल के, ख़ूँख़्वार और असहनशील थे। उनके केश भद्दे, आँखें बड़ी और गाल चौड़े थे। वे पशु-चर्मों के वस्त्र धारण किये रहते थे तथा धनुष-बाणों और पत्थर की कुल्हाड़ियों का व्यवहार करते थे। वृक्षों के वल्कल से बनी छोटी-छोटी नौकाओं में बैठकर वे नदियों में स्वच्छन्दता से विचरण करते थे और विदेशियों के हाथ पशुओं की रोएँदार खालें बेचकर बदले में उनसे लाल फ़लालैन की पतली पट्टियाँ प्राप्त करने को उत्सुक रहते थे, जिन्हें वे अपने सिर के चारों ओर लपेट लेते थे। विदेशी आगन्तुकों के लोहे के औज़ार देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य होता था और जब एक बार उन्होंने श्वेतांगों द्वारा लाये गए एक साँड का रँभाना सुना, तो वे घबड़ाकर दूर भाग गए। 'नार्समेन' लोगों ने उनके "स्वयं उपजनेवाले खेतों" का भी उल्लेख किया है, जो उस प्रदेश में पाए जाते थे, किन्तु यह निश्चित करना असंभव है कि वे खेत बोई हुई ज्वार के थे या जंगली धान के। यह सत्य है कि आगामी शताब्दी तक विदेशियों से इंडियन लोगों का व्यापार-सम्बन्ध स्थापित रहा, किन्तु जिस प्रकार स्पेनवासियों ने दक्षिणी अमेरिका में राज्य-स्थापना का आरम्भ कर दिया, उसी प्रकार आगे चलकर उत्तरी अमेरिका में भी फ्रेंच, अंग्रेज़ और डच लोगों ने अपने पैर फैलाने आरम्भ कर दिये। अमेरिका के अनेक भूभागों में मूल्यवान खनिज पदार्थों की अधिकता, उपजाऊ भूमि, शिकार की सुविधाएँ और सस्ते मज़दूरों की प्राप्ति, इन सारी सुविधाओं को हस्तगत करने का लोभ संवरण करना योरपीय जातियों के लिए असम्भव था। अतः थोड़े ही प्रयास से उन्होंने इंडियन लोगों को मार भगाया तथा उनकी

भूमि पर अपना अधिकार कर लिया। शताब्दियों तक इसी क्रम की पुनरावृत्ति होती चली गई और सभी इंडियन जातियाँ या तो विदेशियों का दासत्व करने को बाध्य हुईं, या फिर वे लड़कर कर मिटीं अथवा जंगलों और पहाड़ों में भाग गईं। इसके अतिरिक्त अधिकारप्राप्ति के लिए विदेशियों के अपने पारस्परिक संघर्ष में भी इन बेचारों की ही आहुतियाँ अधिक दी गईं। व्यापारिक लाभ और राज्य-स्थापना की प्रवृत्तियों के कारण विदेशियों की जो पारस्परिक लड़ाइयाँ अनेक वर्षों तक बराबर चलती रहीं, उनमें उन आदिम जातियों को ही अपना रक्त बहाने को बाध्य होना पड़ता था। इंडियनों का यह रोमांचक इतिहास वास्तव में बड़ा दयनीय है। बाहरी मैत्री का दिखावा, दग़ा-फ़रेब, और चालबाज़ी तथा अवसर आने पर बल-प्रयोग द्वारा भी इंडियन जातियों का शोषण ही आगन्तुक विदेशियों की सम्मिलित नीति रही। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने ईसाई धर्म-प्रचारकों की टोलियाँ भेजकर उन अभागों की परम्परागत मूर्तिपूजा और जातीय धर्म-भावना को भी मिटाने में कोई कसर बाक़ी नहीं रखी। फिर भी जीवन की उन विषम परिस्थितियों का वीरता से सामना करते हुए कुछ इण्डियन जातियों ने अपनी मौलिकता को न खोते हुए विदेशियों से लड़ाई जारी रखी। इस प्रकार जिन्होंने अपने देश के इन आक्रमणकारियों से लोहा लिया उन साहसी जातियों में अल्गोन क़ुइऑन, इराक़ुओइ-ऑन, और सिओयुक्स नामक जातियाँ मुख्य थीं। इराक़ुओइआन जाति के लोग सब से भयंकर होते थे और अपनी बस्तियों के चारों ओर लकड़ी के मोटे लट्ठों का ऊँचा प्राचीर बनाकर रहते थे। 'ईरी' तथा 'आन्तेरिओ' झीलों के पूर्वी और दक्षिणी इलाक़ों में उनकी आबादी अधिक थी और हडसन तथा ओहिओ नदी के बीच का



अमेरिका के आदिम वासी वृक्षों की खालों और बल्लियों से इस प्रकार की नौकाएँ बनाने में बड़े निपुण थे।

सारा प्रदेश एक ज़माने में उनके ही अधिकार में था।

अमेरिकन इतिहास के प्रारम्भ-काल में अपने पड़ोसी अल्गोन क़ुइऑन जाति के लोगों से निरन्तर लड़ते रहने के कारण इराक़ुओइऑन जाति के केवल कुछ इने-गिने परिवार ही बचे रह गए थे, जिनकी शक्ति क्षीण हो चुकी थी। किन्तु इसी अवसर पर डच लोगों ने उन्हें बन्दूक़ों और तोपों के चलाने में दक्ष कर दिया और उन्हें अपने शस्त्रास्त्र भी पर्याप्त मात्रा में दे दिए। डेकॉनाविडॉ और हायावॉथा जैसे जातीय नेताओं को पाकर यह जाति और भी प्रबल हो उठी। फलतः मोहॉक, ओनोनडागा, सेनेका, ओनेइडा, और कायुगा नामक देशी जातियों के साथ

मिलकर इरा क्वुओइग्रॉन लोगों ने एक सम्मिलित राष्ट्र-मंडल की स्थापना की, जिसे फ्रेंच लोग "लांग हाउस" और अंग्रेज "पंच-राष्ट्र" कहते थे। पूर्वीय वनस्थली की आदिम सभ्यता के अनुरूप इस मंडल के रीतिरिवाज़ और धारणाएँ बड़ी विचित्र थीं। पाप और पुण्य की व्याख्या ये लोग जानते ही न थे। उपवास अथवा नशीले पदार्थों के प्रयोग से स्वप्नों और काल्पनिक दर्शनों के माध्यम द्वारा वे लोग मृतात्माओं से नियमित रूप से वार्त्तालाप किया करते थे। इस प्रकार उन्हें आत्मा और उसके आवागमन में पूर्ण विश्वास था। मृतकों के शवों के साथ रखे जाने-वाले विविध वस्त्रालंकारों और खाद्य-पदार्थों के नियमों द्वारा इस धारणा की पुष्टि होती है। इतना सब करने पर भी इंडियन लोग मृतात्माओं से डरते थे और उनको पुनः वापस आने से रोकने के लिए विशेष उपचारों का आश्रय लेते थे। किसी संगठित शासन-पद्धति या केन्द्रीय सत्ता और राजा का अधिकार मानने की कल्पना भी उनके मन में नहीं आती थी।

जहाँ तक धर्म का सम्बन्ध था, इंडियन लोग तात्का-लिक परिणामों पर अधिक विश्वास रखते थे। जब किसी इंडियन को यह अनुमान होता कि उसे किसी दुष्ट आत्मा ने घेर लिया है तो वह तत्काल उस आत्मा के निमित्त बलि-प्रदान करके या भेंट-पूजा द्वारा उसे संतुष्ट करके छुटकारा पाने का उपाय सोच लेता। अतएव यह निश्चित है कि उसका ध्यान अनुकूल व प्रतिकूल शक्तियों की ओर समान रूप से लगा रहता था। ईसाई धर्मप्रचारकों ने इंडियन जातियों की इन भावनाओं को "शैतान की उपासना" कहकर उनको असभ्य बतलाया है। पर सत्य तो यह है कि इंडियन लोगों के इस अन्धविश्वास की आड़ में एक निराकार अलौकिक प्राकृतिक शक्ति के अस्तित्व की धारणा छिपी हुई थी, जो उनके विश्वासानुकूल समस्त चरा-चर में व्याप्त होकर उन सभी गोचर पदार्थों को सजीव कर देती है, जिनके द्वारा मनुष्य के भाग्य का नियंत्रण होता है। अल्गोनक्वुइआन जाति के लोग उस शक्ति को 'मैनितो', शोशोनी लोग 'पोकुन्त' और इरोक्वुओई लोग 'ओरेन्दा' कहते थे। वह शक्ति 'जीवन का मूलतत्त्व' के नाम से पुकारी जा सकती है। आरम्भिक योरपीय यात्रियों ने इस धारणा के मूल आशय को न समझकर साधारण-तया उसे 'महान् आत्मा' के नाम से ही उल्लिखित किया है।

इंडियन लोगों में मृतकों के सम्बन्ध में बड़े समारोह-पूर्ण संस्कारों का प्रचलन था। हुरोन जाति में मृत व्यक्ति का शव वृक्षों की छाल से बने शवाधार में झुके हुए आसन से बिठा दिया जाता था। गाँव के निकट एक ऊँचा मचान बनाकर उस पर वह शवाधार भाँति-भाँति के भोजन, वस्त्र, अलंकार आदि उपहारों के साथ रख दिया जाता और तब मृतक के सगे-सम्बन्धी लौट आते थे। फिर प्रत्येक १२ वर्ष की अवधि के उपरान्त मृतकों के विराट भोज के अवसर पर जाति के जो लोग उस अवधि में मरते थे उन समस्त मृत व्यक्तियों के शरीर शवाधारों से निकाल-निकाल कर उनके स्वजनों द्वारा लाये जाते थे। उनकी अस्थियों को बड़े स्नेह और सत्कार के साथ साफ़ किया जाता था और तब फिर उनको सबसे अच्छे बारीक वस्त्रों में लपेटकर भली प्रकार ढँककर, लोग अपने-अपने गाँवों में उन्हें ले जाते थे, जहाँ नये-नये बहुमूल्य उपहारों के साथ उनका थोड़ी देर तक प्रदर्शन किया जाता था। वहाँ से फिर मृतकों के सगे-सम्बन्धी उन अस्थियों को उठाकर एक बहुत बड़े मुर्दे दफ़नाने के सार्वजनिक गढ़े तक ले जाते थे। एक निश्चित तिथि आने पर जाति के समस्त मृत व्यक्तियों की अस्थियाँ बड़ी धूम-धाम और समारोह के साथ उस गढ़े में डाल दी जाती थीं। ब्रेब्यूफ़ नामक एक योरपीय धर्म-प्रचारक, जो घटनावश एक ऐसे ही मृतक-संस्कार के अवसर पर उपस्थित था, अपने संस्मरणों में लिखता है :—

"मैदान के बीच में एक बड़ा-सा गढ़ा था—लगभग दस फ़ीट गहरा और पन्द्रह फ़ीट चौड़ा! उसके चारों ओर मंच की भाँति एक ऊँचा मचान बँधा हुआ था। गढ़े के ठीक ऊपर कई लट्ठे आड़े बँधे हुए थे, जिनमें मृतकों की अस्थियों की बहुत-सी गठरियाँ लटकी हुई थीं। जो व्यक्ति हाल में ही मृत्यु को प्राप्त हुए थे, उनके समूचे शव गढ़े के भीतर पेड़ों की छाल के बिछौनों और चटाइयों पर लिटा दिये गये थे। भेंट-उपहार की सारी वस्तुएँ एकत्र की गई थीं, जिनमें बहुमूल्य पोशाकें और गहने भी सम्मिलित थे। तब संस्कार-समारोह आरम्भ हुआ। ठीक सात बजे मृतकों की सारी अस्थियाँ गढ़े में डाल दी गईं। मैं बड़ी कठिनाई से गढ़े के निकट पहुँच सका, क्योंकि इंडियन लोगों की अपार भीड़ धक्कामुक्का करके आगे बढ़ने की चेष्टा कर रही थी। चारों ओर कोलाहल मच रहा था। आधे सड़े, सूखे और बदबूदार नरकंकालों को उस गढ़े में डालने का दृश्य बड़ा ही वीभत्स और रोमांचकारी था। मृतकों के सगे-संबंधी और

दर्शकों ने इतना शोर मचा रखा था कि कुछ सुनाई ही न देता था। दस-बारह व्यक्ति गढ़े के भीतर उतरकर कंकालों को चारों ओर सम्हाल-सम्हालकर रखते जाते थे। गढ़े के ठीक बीचोबीच तीन केतलियाँ उन्होंने रख दी थीं, जो संभवतः मृतात्माओं के व्यवहार निमित्त थीं। एक में बड़ा-सा छेद था, दूसरी का दस्ता नदारद था और तीसरी बहुत हल्की तथा कम दामों की जान पड़ती थी। बाद में रात्रि के समय बची-खुची गठरियाँ, जिनमें मृतकों की अस्थियाँ बँधी हुई थीं, ज्यों की त्यों गढ़े में फेंक दी गईं। जगह-जगह आग जलाई गई। शोक-गीतों का गायन आरम्भ हो गया और असंख्य आवाज़ें उस सन्नाटे में ऊँची उठने लगीं। अनाज से भरी कई टोकरियाँ गढ़े में पड़ी हुई अस्थियों और कंकालों पर उँडेल दी गईं, जिसके पश्चात् बहुत-से रोएँदार पशुचर्म ऊपर से डाल दिये गये। जब दफ़नाने का कार्य समाप्त हो गया, तब समारोह से सम्बन्ध न रखनेवाले दर्शकों और अभ्यागतों को प्रचुरता से भेंट-उपहार बाँटे गए और एक विराट भोज के उपरान्त मृतक-संस्कार का यह अनोखा कृत्य समाप्त हुआ।"

सच पूछा जाय तो इंडियन का धर्म उसकी स्वाभाविक प्रकृति-अध्ययनशीलता के आधार पर ही निर्मित था। प्रति दिन वह पूर्व में सूर्य का उदय और पश्चिम में अस्त होते देखा करता था, जिसके उज्ज्वल प्रकाश में आकाश के नैश-प्रहरी तारागणों का अस्तित्व लुप्त हो जाता था। वह नियमित रूप से चन्द्रमा का बढ़ना-घटना भी देखता था। ऋतुओं का क्रमिक आवागमन तथा दिन-रात के छोटे-बड़े होने की अवधि भी वह अनुभव से जानने लगा था। ऋतुओं से ही पशुओं, पक्षियों और जलचरों का स्थानान्तरित होना तथा वृक्षों और पौधों का फलना-फूलना सम्बन्धित है, यह भी उससे छिपा न था। ग्रीष्म की तपन, शरद की शीत, धूप और वर्षा, बिजली, हवा और बर्फ़ का पड़ना भी ऋतुओं पर अवलंबित है, यह बात भी उसे ज्ञात हो चुकी थी। कभी तो प्रकृति अपनी उदारता दिखलाती और कभी उसके कोप से मनुष्य को जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनों के पूर्ण अभाव का सामना करना पड़ता। समय-समय पर



रेड इंडियनों की चिपेवा जाति के योद्धा युद्ध के लिए सुसज्जित होकर रण-यात्रा पर जा रहे हैं !

इन लोगों में पहले ज़रा-सी बात पर रण-दुंदुभि बज जाया करती थी और टोली बनाकर ये लोग धावा बोल देते थे। लड़ाई पर जाते समय योद्धा लोग अपनी-अपनी विचित्र ढंग की पोशाक पहनकर तरह-तरह से अपने चेहरे और बदन रँगते थे और कूच करने के पहले काफ़ी नृत्य-भोज आदि होते थे !

अपने अदृश्य आक्रमण द्वारा रोग और बीमारियाँ उसे घेर लेतीं और वह चलने-फिरने से भी मजबूर हो जाता। सीधा-सादा इंडियन इन सारी बातों को किसी अलौकिक शक्ति की प्रेरणा का फल समझकर अपनी विवशता अनुभव करता। कार्य्य और कारण, सत्य और सिद्धान्त, विनाश और सृजन के रहस्यों को, अनुभव करते हुए भी, वह समझ न पाता था। इंडियन-मस्तिष्क की ऐसी समस्त भावनाओं और विचारों का परिचय आडम्बरयुक्त भाषा में कही गई उसके देश की प्रचलित किम्वदन्तियों में पर्याप्त रूप से मिलता है, जो उसके जातीय वीरों की शौर्य्य-सराहना के हेतु रची गई थीं।

प्रत्यक्षतया सभी अमेरिकन इंडियन सूर्य की चाल देखने और अध्ययन करने में निपुण थे और उसी के द्वारा वे अपना वर्ष-विभाजन किया करते थे। दिन और रात का होना, उनका घटना बढ़ना और चन्द्रमा की कलाओं का परिवर्त्तन काल-परिमाण जानने के उनके मुख्य साधन थे। प्राकृतिक परिवर्त्तन और मौसमी वायु के परिणामों को देखकर उन लोगों ने वर्ष को कई ऋतुओं में बाँट लिया था। ऋतुओं के महत्त्व को वे समझते थे और इस ज्ञान का उनकी रहन-सहन और जीवनचर्या पर गहरा प्रभाव पड़ता था। पूर्व के भूभागों में रहनेवाली जातियाँ वर्ष में पाँच ऋतुओं का आवागमन मानती थीं—(१) वसन्त, (२) ज्वार-पकने का समय, (३) ग्रीष्म या "ऊँचा-सूर्य्य होने का समय", (४) पतझड़-काल और (५) जाड़ा या बर्फ़ और शीत का मौसम। इरोक्वोई जातिवाले ऋतुओं के परिवर्त्तन को "जीवन के देवता" और "पथरीली बिल्ली" (जो बर्फ़ और शीत की देवी तथा कर्त्री कही जाती थी) का अनवरत द्वन्द्व-युद्ध मानते थे। विभिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न रहन-सहनवाली इंडियन जातियों में यदि ऋतुओं का विभाजन-क्रम भी भिन्न माना जाता था तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। खेती-किसानी करनेवाली जातियों के विचार शिकारी तथा अन्य जातियों के विचारों से सर्वथा निराले होते थे। कृषि-जीवी लोगों को स्थानीय वातावरण से पता चल जाता था कि प्रकृति की किन-किन अवस्थाओं का महत्त्व उनके लिए सबसे अधिक है। शुष्क अरिज़ोना प्रदेश के निवासी प्यूएब्लो इंडियन तथा नव-मेक्सिको के रहनेवालों को इरोक्वोई जातिवालों की अपेक्षा बरसात का महत्त्व अधिक प्रतीत होता था। बीज का उगना, वार्षिक पौधों का फलना-फूलना और सूख जाना, वृक्षों में बौर आना, पत्तियाँ व कोंपलें निकलना, फलों का आना, पतझड़ होना, पशुओं, पक्षियों और मछलियों का स्थानान्तरित होना व जोड़े खाना आदि घटनाओं का समय देखकर ऋतुओं का विभाजन किया जाता था। सांसारिक जीवन-सम्बन्धी विचारों का इन लोगों के धर्म में पूर्ण समावेश था। विभिन्न ऋतुएँ कतिपय विशेष देवी-देवताओं से सम्बन्धित थीं और देवी-देवताओं को प्रायः चार या छः दिशाओं का स्वामी माना जाता था। इंडियन लोग अपनी इन धारणाओं को ही सर्वोपरि समझकर परम्परागत रूढ़ियों के कट्टर अनुयायी बने हुए थे।

अमेरिकावासी इंडियन लोगों में ऐसी अनेक गुप्त-समितियाँ और टोलियाँ थीं, जिनके सदस्य समाज में केवल विचित्र प्रकार की नक़ाबें और चेहरे तथा अजीब तरह की पोशाकें पहनकर ही निकला करते थे। उन पोशाकों और चेहरों के द्वारा वे लोग विभिन्न देवी-देवताओं के स्थानापन्न प्रतिनिधि बनकर जनता में अपनी उपासना द्वारा अर्जित शक्ति और दैवी चमत्कारों के प्रदर्शन की सामर्थ्य का आतंक जमाये रहते थे। जनता उनके कथन में अन्धविश्वास रखती थी। विदेशी यात्रियों ने इरोक्वोई जाति में प्रचलित एक 'नक़ाबपोशों की समिति' का उल्लेख किया है, जो आज भी गुप्त रूप से उन लोगों में वर्तमान है। रेड इंडियन की मानसिक कल्पना के अनुसार आसपास के वन्य प्रदेशों और जनशून्य स्थानों व झीलों के निकट विचित्र प्रकार की प्रेतात्माओं का आवास होता था। शिकारी लोग आखेट की दुर्घटनाओं का कारण भयानक अमानुषिक प्रेतात्माओं से मुठभेड़ होना मानते थे, जिनको प्रायः वे स्वप्नावस्था में भी देखा करते थे। इन नक़ाबपोशों में अनेक प्रकार की बीमारियों को दूर करने की शक्ति भी होती थी, ऐसा लोगों का विश्वास था। स्वप्न में ऐसे 'चेहरे' का दर्शन करनेवाला व्यक्ति यह आदेश भी प्राप्त कर लेता था कि यदि वह तदनुरूप 'चेहरा' बनवाकर धारण करे और कुछ विचित्र मंत्र-गीतों का गाना सीख ले तो उसमें भी दूसरों की चिकित्सा करने और रोगियों को अच्छा करने की शक्ति आ सकती है। यदि उन 'चेहरों' को सम्मानपूर्वक समय-समय पर तम्बाकू और राख की भेंट नहीं दी जाती थी तो वे लोगों को रोगग्रसित कर देते थे, जिनसे मुक्ति दिलाने की सामर्थ्य केवल उनमें ही होती थी। ये चेहरे और आकृतियाँ अनेक प्रकार की होती थीं। प्रायः एक टेढ़ी और टूटी नाकवाला 'चेहरा' इनमें अधिक देखने में आता था, जिसका कथन था कि उसके मुँह पर पहाड़ गिर पड़ा था! दूसरे 'चेहरे' अपनी भोंडी और भद्दी

आकृतियों का कारण यह बतलाते थे कि रोगात्माएँ होने के कारण वे "जीवन के देवता" से निरंतर संग्राम करते रहे, जिससे उनकी यह दुर्गत हो गई।

प्रत्येक व्यक्ति द्वारा स्वप्न में देखे गए 'चेहरे' आकृतियों में ही भिन्न नहीं होते थे वरन् उनके स्वभावों और कार्य्यों में भी भिन्नता होती थी। कुछ काले, कुछ लाल, कुछ श्वेत होते थे तथा कुछ कमसिन और कुछ बूढ़े भी होते थे। अधिकाँश मे वे बदसूरत और डरावने ही देखे जाते थे। वसन्त तथा पतझड़ की ऋतुओं में, जब कि साधारणतया बीमारियाँ अधिक फैलती हैं, 'चेहरों की समिति' नाना प्रकार के रंग-बिरंगे अद्‌भुत आकृतियों वाले चेहरे पहनकर, अपने सदस्यों का गरोह साथ लिये जाति के समस्त व्यक्तियों के घरों में घुसती फिरती थी। वे कछुओं की पीठ के बने बड़े-बड़े झुनझुने (जो खड़खड़ाहट का शब्द करते थे) हाथों में हिलाते हुए, विचित्र प्रकार का शोर मचाते हुए, सानुनासिक स्वरों में वार्तालाप करते बस्तियों में घूमा करते थे। इंडियन लोगों का विश्वास था कि ऐसा करने पर आक्रमणकारी रोगात्माएँ डरकर भाग जाती थीं। पुराने ज़माने में इन विचित्र 'चेहरों' के लम्बे-लम्बे जुलूस पाँव-पैदल जातीय बस्तियों में स्वच्छन्द विचरण करते रहते थे। आजकल इरोकुओई लोगों की बस्तियाँ एक-दूसरे से काफ़ी दूरी पर मिलती हैं, क्योंकि उनकी संख्या कम हो गई है। अतएव 'चेहरों की समिति' के सदस्य अपनी पुरानी पोशाकें पहन कर अब खुली मोटरों में यात्रा करते हुए द्वार-द्वार घूमते हैं! इरोकुओई और अल्गोनक्विइअोन, दोनों जातियों के व्यक्तियों का विश्वास है कि एक "लम्बी नाक" नामक चेहराधारी नरभक्षी है, जो बच्चों को उठा ले जाता है। बालक-बालिकाओं को शिक्षा देते समय वे लोग शारीरिक ताड़ना से काम नहीं लेते, वरन् उनको यह कहकर डराते हैं कि "लम्बी नाक" आकर उनको पकड़ेगा और अपनी बड़ी भारी संदूक में बन्द करके उठा ले जाएगा। साधारणतया इतनी धमकी बालकों को शिष्टतापूर्ण आचरण सिखाने के लिए पर्याप्त होती है और वे "लम्बी नाक" से बेहद डरते हैं!



इरोकुओई जाति की एक स्त्री और उसका शिशु
बच्चे के विचित्र पालने की कलापूर्ण चित्रकारी पर ध्यान दीजिए।

इंडियनों की धारणा थी कि प्रत्येक प्रकार के अनाज तथा खाद्य पदार्थ की उत्पत्ति का कोई न कोई दैवी कारण अवश्य होता है, अतएव उनमें यह रिवाज बन गया कि प्रत्येक नवीन खाद्य का स्वयं व्यवहार करने से पहले उस खाद्य के नियामक देवता को उसका भोग अवश्य लगाया जाय। अतः मार्च महीने के प्रारम्भ में इंडियन लोगों की बस्तियों में प्रतिवर्ष एक भारी मेला लगा करता था, जबकि नए फूले हुए 'मेपल' नामक छायादार वृक्षों से दूध या मीठा रस निकाला जाता था और आबाल-वृद्ध-वनिता सब सामूहिक रूप से आनन्दोत्सव मनाते थे। कड़ाके की सर्दी लानेवाली शरद ऋतु के बीतने और वसन्त तथा ग्रीष्म के आगमन के बीच की अवधि की सुन्दर ऋतु प्रसन्नता और आनन्द का उद्रेक करनेवाली समझी जाती थी और उससे ही श्रम-काल या ऋतु-आरम्भ गिना जाता था।

मेनोमिनी लोगों में 'मेपल' की शकर की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक सुन्दर दन्तकथा प्रचलित है। उन लोगों में यह किवदंती प्रचलित है कि जिस समय सर्वप्रथम मानव-सृष्टि का का आरम्भ हुआ तब मनुष्य को वृक्ष से दूध निकालने की क्रिया का ज्ञान न था। एक दिन बूढ़ी नानी नोकोमिस ने मानाबुशा को, जो एक महान् जातीय वीर और मनुष्य का मित्र था, वृक्षों में छेद करके दूध निकालना सिखा दिया। किन्तु जो दूध निकला वह शुद्ध गाढ़े शर्बत के रूप में था। बुद्धिमान् मानाबुशा ने सोचा—"यह बात तो अच्छी नहीं। यदि इतनी सरलता से शकर बनने लगेगी तो लोगों

को काफ़ी काम न रहा करेगा। इस कार्य्य को और भी कठिन बना देना चाहिए, जिसमें लोग परिश्रम करते रहें और उनमें काहिली या अकर्मण्यता न आने पाए।" अतएव इसी विचार से मानाबुशा सबसे ऊँचे वृक्ष की चोटी पर चढ़ गया और अपने हाथ से उसने सब वृक्षों पर इस प्रकार जल छिड़का मानों पानी बरस रहा हो। परिणाम यह हुआ कि उन वृक्षों से निकलनेवाला दूध पानी जैसा पतला हो गया जैसा कि आज भी निकलता है। उसी दिन से इंडियन लोगों को शकर बनाने में पर्याप्त परिश्रम करना पड़ता है, लकड़ी काटना पड़ती है, छाल के बर्तन बनाने पड़ते हैं और दूध इकट्ठा करके कई रात उसे उबालना पड़ता है, तब कहीं वह व्यवहार करने योग्य होता है। हाँ, आजकल नये-नये साधनों का आविष्कार हो जाने के कारण उनके द्वारा लोग बड़ी सरलता से 'मेपल' वृक्षों के दूध से शकर तैयार कर लेने लगे हैं।

इंडियनों से फ्रेंच उपनिवेशकों ने 'मेपल' वृक्षों का दूध जमा करके सुखाने की विधि सीखी और बदले में उनको लोहे की केतली का व्यवहार सिखलाया, जिससे शकर बनाने के तरीक़ों में उन्नति हो सकी। श्वेतांगों के आगमन से पूर्व सम्भवतः इंडियन लोग उस दूध को पूर्णतया सुखाते न थे वरन् मधुर गाढ़े रूप में ही उसका व्यवहार करते थे तथा उसे एक स्वास्थ्यप्रद स्फूर्तिदायक पेय समझते थे। उनकी बस्तियों की सीमाओं के अन्तर्गत लगे हुए 'मेपल' वृक्षों के झुंड विशेष परिवारों की सम्पत्ति माने जाते थे और पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसी परिवार के वंशज उनसे लाभ उठाते थे।

अपनी स्वाभाविक प्रतिभा और सूझ से ही इंडियनों ने कठोर शीत पर भी विजय पाने की युक्ति जान ली थी। 'स्नो-शू' या बर्फ़ पर चलने के जूते, जिन्हें पहनकर वे कोसों तक जमी हुई बर्फ़ के ऊपर सरलता से पाँव-पैदल यात्रा कर सकते हैं, उनके अपने ही आविष्कार थे। कई प्रकार के जूते व्यवहार में लाए जाते थे, किन्तु सबके सब एक ही सिद्धान्त पर बनते थे। एक स्थानीय वृक्ष विशेष की लचीली लकड़ी को भाप द्वारा झुकाकर समुचित आकार में लाना पड़ता था और कच्चे पशुचर्म की पतली पट्टियाँ, पशुओं की आँतड़ियाँ, ताँत या रेशेदार छाल के कटे हुए मोटे धागों के बुने हुए जाल से मढ़कर वे जूते तैयार किए जाते थे। उपयोग के अनुरूप ही उन जूतों की बनावट और उनका आकार हुआ करता था, जैसे जंगलों या खुली बर्फ़ पर अथवा सख़्त या मुलायम बर्फ़ पर चलने के अलग-अलग जूते बना करते थे। जब कोई व्यक्ति अचानक घर से बाहर बर्फ़ के तूफ़ान में फँस जाता था तो वह बात की बात में अपने पहनने के लिए आसपास के वृक्षों की हरी टहनियों और पतली छाल के द्वारा उसी जगह एक जोड़ा उपयोगी जूते तैयार कर लेता था!

सघन वनों में रहनेवाली इंडियन जातियों के सबसे उपयोगी आविष्कारों में वृक्ष की छाल या बल्कल से बनाई हुई नौकाओं का विशिष्ट स्थान माना जाता है, जो ग्रीष्मऋतु में उनकी यात्रा का मुख्य साधन होती थीं। पूर्व की वनस्थली वास्तव में झीलों और नदियों का प्रदेश थी, जहाँ यातायात के मुख्य मार्ग जलाशयों से होकर निकलते थे। सेंट लारेन्स नदी के दक्षिण में बसी हुई कुछ इंडियन जातियाँ लकड़ी के मोटे लट्ठों को आग और पत्थर के बसूलों से कोरकर खोखला कर लेतीं और उन्हीं की डोंगियाँ बनाकर काम में लाती थीं। वन्य-प्रदेशों में एक अन्य नौका का अधिक व्यवहार होता था, जिसमें हल्की देवदार की लकड़ी के ढाँचे पर वृक्षों की छाल मढ़ दी जाती थी। कभी-कभी छाल के बजाय उस प्रदेश में अधिकता से पाए जानेवाले "मूस" नामक बारहसिंगे की खाल भी नौकाओं पर मढ़ी जाती थी। किन्तु साधारणतया वृक्ष की छाल ही हल्की और चिमड़ी होने के कारण काम में लाई जाती थी, क्योंकि छाल प्रत्येक मौसम में वृक्षों से छीली जा सकती थी और सरलता से उपलब्ध होती थी। आज भी जिस प्रकार की नौकाओं का व्यवहार इंडियन लोगों में प्रचलित है, वे नाज़ुक होते हुए भी इतनी हल्की होती हैं कि आवश्यकता के समय एक व्यक्ति एक नौका को सरलता से अपनी पीठ पर लादकर दूर की बस्ती तक ले जाता है। इसी कारण सम्भवतः ऐसी नौकाओं का प्रचलन अधिक होता रहा और महाद्वीप के सुदूर भूभागों की यात्राएँ भी इन नौकाओं द्वारा सुगम हो गईं।

प्रारम्भिक अनुसंधानकर्त्ताओं ने उपरोक्त प्रकार की नौकाओं द्वारा ही उत्तर-पूर्व के सघन वनों में पहुँचकर वहाँ का कोना-कोना छान डालने में सफलता पाई। यद्यपि नौकाओं के बनाने का प्रचलित ढँग एक जैसा ही था, परन्तु उनके अन्य उपादान सब देशी जातियों में भिन्न-भिन्न हुआ करते थे, जिनके कारण किसी नौका को देखकर केवल आकार द्वारा ही उसके निर्माण-स्थल का बहुत-कुछ पता बताया जा सकता था।